आधुनिकता : एक पहचान

डॉ. चन्द्रभान रावत
प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष,
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

डॉ. रामकुमार खण्डेलवाल
प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष,
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

देवनागर प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रथम संस्करण : 1985
कृति : आधुनिकता : एक पहचान
कृतिकार : रावत एवं खण्डेलवाल
मूल्य : पचास रुपये
प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन, जयपुर
मुद्रक : एलोरा प्रिण्टर्स, जयपुर

प्रस्तुति

आधुनिकता और उसके साहित्यिक संदर्भ पर बहुत लिखा गया है—देश मे भी, विदेश में भी। बहुत लिखा गया है इसलिए कि यह विषय बहुआयामी है। यह बहु आयामी है क्योंकि आधुनिक जीवन उसके अनुभव और उसकी संभावनाएं विविध हैं। विषय इसलिए भी जटिल है कि यह एक ओर तो मध्यकाल को विदा देता है और दूसरी ओर युग युग व्यापी सामाजिक सजगताओ को अपने मे समाहित करता है। अतीत और भविष्य मे परिव्याप्त एक अवधारणा!

आधुनिकता, वर्तमान, समसामयिक जैसे कालवाची शब्द अपने को परस्पर अलगाते भी हैं और एक दूसरे जुड़ते भी है। आधुनिकता क्या, क्यो, कबसे—चुनौती भरे सवाल है। इनके जवाबो मे कभी विवाद भी आजाता है और कभी संवाद भी। इसलिए यह विषय चूकता नही है।

बहुत से प्रयत्न हुए है, आगे भी होंगे—आधुनिकता को समझने और समझाने के लिए। एक प्रयत्न यह भी है। कोशिश यह की गयी है कि एब्स्ट्राक्ट की अपेक्षा कुछ ठोस धरातलों को लाया जाये। सामान्य भूमिका को मद्देनजर रखते हुए हिन्दी के संदर्भ को उभारा जाये। तीन खण्डो में अवधारणा, विकास के चरण और मूल्यांकन को लिया गया है।

आधुनिकता के विकास के चरण 'प्रगति' पर रुक गये है। यह इसलिए हुआ है कि आजादी के बाद के युग को समकालीन मान लिया जाता है। वैसे विभाजन कोई ज्यादा साफ नहीं है, फिर भी भारतीय स्वतंत्रता से पहले तक आकर विकास के चरणो को रोक देना एक अर्थ रखता है।

—चन्द्रभान रावत
—रामकुमार खण्डेलवाल

क्रमणिका

1. अर्थ और अवधारणा 9–54

1.1 आधुनिकता का जन्म 10–19
1.2 अंग्रेज और भारतीय आधुनिकता 20–27
1.3 पहचान 28–36
1.4 स्थायी सत्य और आधुनिकता 37–47
1.5 आधुनिक और समकालीन 48–54

2. विकास के चरण 55–122

2.1 पहला चरण : सुधार और नवजागरण 57–68
2.2 दूसरा चरण : राष्ट्रीयता 69–82
2 3 तीसरा चरण : स्वच्छंदता 83–104
2.4 चौथा चरण : प्रगति 105–122

3. मूल्यांकन के प्रतिमान 123–168

3.1 पश्चिम में 125–134
3.2 हिन्दी : प्रतिमानों की खोज 135–140
3.3 सत्यं शिव सुन्दर 141–156
3.4 यथार्थवाद और आदर्शवाद 157-168

१. अर्थ और अवधारणा

१.१ आधुनिकता का जन्म

इतिहास में एक क्रम प्रतीत होता है—प्राचीनकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल, भूत, वर्तमान और भविष्य; क्लासिकवाद, रोमांसवाद और नवीन ! इनमें से प्रथम क्रम यानी प्राचीन से लेकर आधुनिक तक और आखिरी क्रम यानी क्लासीकवाद से लेकर नवीनता तक प्रवृत्तिगत क्रम है। कालक्रम यांत्रिक है और यदि काल-दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो भूत-वर्तमान आदि काल के खण्डित बोध के प्रतीक हैं। वास्तव में अखण्ड काल धारा का बोध ही चिंतन की अन्तिम परिणति है। यदि कुछ घोल मेल करें तो लगता है कि अतीत अपने में प्राचीन और मध्यकाल को समेटे है। वर्तमान में आधुनिकता और नवीनता आ जाती है और भविष्य ? एक आशा, एक अनुमान, एक सम्भावना, एक इन्तजार, वर्तमान की, परिणति–यह सब कुछ उसमें भरा है। वर्तमान की देहली पर खड़े होकर भूत और भविष्य दोनों ओर देखा जा सकता है।

एक और नजरिया है—"आधुनिकता युग सन्दर्भ की भावना नहीं है। यह कथन स्पष्ट संकेत करता है कि आधुनिक होने का मतलब आज का, इस दशक या शताब्दी का होना नहीं है।""असल में आधुनिक होना समय हीन (टाइम लैस) होना है और भी सीधे कहें तो कह सकते हैं, आधुनिक होना शाश्वत होना है।"" आधुनिकता की समस्या काल-सापेक्ष कम, व्यक्ति सापेक्ष ज्यादा है।" मैं दूधनाथ सिंह के इस कथन से सहमत हूं। इसमें उस तत्त्व की ओर संकेत है, जो अखण्ड काल-प्रवाह से सम्बद्ध है: जो समय से कट कर चलता है। समय को काट कर चलता है। आधुनिकता इस या उस काल खण्ड की बपौती नहीं है: यह एक प्रवृत्ति है जो काल से बंधकर नही चलती। तथा कथित ऐतिहासिक आधुनिक युग में रहने वाला मानस पूर्णतः या अंशतः मध्य युगीन हो सकता है और मध्य काल में भी आधुनिकता के कबीर जन्म ले सकते हैं। राम की तुलना में कृष्ण अधिक आधुनिक लगते हैं और तुलसी की तुलना मे कबीर। वास्तविक बात व्यक्ति सापेक्षता की ही है।

तो, आधुनिकता के जन्म की बात करना तो अटपटा सा ही है। जो शाश्वत है, जो अनादि है, उसके जन्म की चर्चा क्या है ? यदि साफ कहदूं तो, आधुनिकता के जन्म का मतलब है, आधुनिकता के मुक्त होने से और उसके प्रबल-सबल होने से। मध्यकालीन प्रवृत्तियों से जो युग आधुनिकता को जितना ही मुक्त कर पाता है और जितना ही उसका अस्तित्व निरापद होता है, उतना ही वह युग आधुनिक है—नहीं, उस युग में लगता है कि आधुनिकता ने जन्म नहीं तो, पुनर्जन्म लिया। जिस काल-खण्ड मे यह शुभ घडी आती है। इतिहास उसे आधुनिक युग कह कर चल देता है।

आज जब हम आधुनिकता के बारे में सोचते है, तो हमारी दृष्टि में यूरोप की वह ऐतिहासिक शुभ घड़ी रहती है जब आधुनिकता ने आंखें खोली। उसे विस्तृत समर्थन मिला और मध्ययुगीन धुंधलके से मानस को छुट्टी मिली। लगता है अमेरिका का स्वातन्त्र्य संग्राम, फ्रांस की राज्य क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति और रूस की लाल क्रान्ति, कुछ ऐसी घटनायें हैं, जिन्होंने मध्ययुगीन मानस के नीचे छुपे-दबे आधुनिक मानस को मुक्त किया। विकासवाद, द्वन्द्वात्मकवाद भौतिकवाद, मनोविश्लेषणवाद जैसे विज्ञानाश्रित दर्शनों की भूमिका भी मिली और आधुनिकता का पुनर्जन्म हो गया।

आधुनिकता के कुछ मोटे-मोटे लक्षण भी हैं। इतिहास के क्रम की दृष्टि से यह एक प्रतिक्रिया है—क्लासिकवाद और रोमांसवाद के प्रति। व्यक्तिगत दृष्टि से परम्परा से एक बौद्धिक असहमति भी इसमें निहित रहती है। बौद्धिकता एक ऐसे विज्ञानवाद को जन्म देती है, जिसमे मूल्य परिवर्तन के लिए बाध्य हो जाते हैं और इस सबसे प्रेरणा पाकर नये-नये वाद प्रकट होते हैं। वाद जल्दी-जल्दी बदलते हैं। सक्षेप मे ये ही आधुनिकता के मोटे-मोटे लक्षण है।

रोमांसवाद क्लासिकवाद की प्रक्रिया मे उठता है। क्लासिकवाद में एक आवेशहीन; संयम निष्ठ मनःस्थिति प्रायः कथ्य बनती है। अभिव्यक्ति मे एक नियन्त्रित नियमित शैली का व्यवहार होता है। यह वस्तुस्थिति 'स्वच्छन्दता' के विरोध में है। रोमांसवाद इसके प्रति असहमत होकर आवेग प्रधान मनःस्थिति को अनियन्त्रित एवं विस्फोटात्मक शैली मे व्यक्त करना चाहता है। सामाजिक दृष्टि से मध्यकाल को हिलाने और चुनौती देने वाली शक्तियां पुनर्जागरण और सुधारवाद के नाम से अभिहित ही तो है। पुनर्जागरण, सुधारवाद एवं रोमांसवाद की प्रतिक्रिया का ऐतिहासिक महत्त्व इस बात मे है कि ये मध्यकाल की सुनिश्चित व्यवस्था के लिए पहली चुनौती बनते हैं। कुछ बौद्धिकता और स्वच्छन्दता को लिए हुये आधुनिकता के जन्म के लिये एक भूमिका भी इनके द्वारा बनती है। पर, उदग्र बौद्धिकता और दहकती हुई असहमति इस सबसे संतुष्ट नही होती। गति, प्रगति बनने के लिये आकुल-व्याकुल हो उठती है।

जब रोमांसवाद चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने लगा, तभी विज्ञान की शक्तियाँ भी उदित होने लगी। विज्ञान ने रोमांसवाद को जो नया प्रतिमान प्रदान किया, उसकी दृष्टि से रोमांसवाद सभ्यता-पूर्व या अर्द्ध सभ्य युगों की वाणी ठहरती है। वैज्ञानिक शक्तियों ने एक ऐसा माहौल खड़ा किया कि रोमांसवाद मध्ययुग का एक निरर्थक उपसंहार जैसा लगने लगा। जागृत बौद्धिकता को न तो यह कथ्य के रूप में स्वीकार कर पाया और न वैज्ञानिक जागृति को माध्यम ही दे सका। वैज्ञानिक घटाटोप में ऐसा अनुभव होने लगा। जैसे कविता खतरे में है। शैली को 'इन डिफेंस आफ पोइट्री' जैसा लेख लिखना पड़ा। रोमांसवाद को विज्ञान और बौद्धिकता ने अतीत में धकिया दिया हो जैसे! गिरता पड़ता वह टेनिसन और ब्राउनिंग जैसे अभिनव रोमांसवादियों के सहारे उन्नीसवीं शती के अन्त तक चल सका। जीवनी शक्ति तो पहले ही चुक गई थी। बीसवीं शती में यह प्रवेश नहीं कर पाया।

रोमांसवाद का करुण अवसान हुआ। आधुनिकता के अग्रदूत एलेन पो में सौन्दर्य परक मूल्यों का कुछ आभास मिलता है। उसमे उपयोगिता और सांद्देश्यता के प्रति भी कुछ अविश्वास है। किन्तु एलन पो की आत्मा तो बोदलेअर, मलार्मे और रेम्बू की त्रयी में भड़की। इन प्रतीकवादियों की आधुनिक सधारणाओं ने रोमांसवाद को एक करारी चोट दी। रोमांसवादियों का सौन्दर्य बोध 'आउट आफ डेट' हो गया। और भी कुछ हू-हुल्लड़ हुआ कि रोमांसवादी स्वर सकपका गया। आर्नल्ड ने कविता को नई कसौटी दी—कविता जीवन और समाज की समीक्षा है। टाल्स्टाय ने नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की। बर्नार्डशॉ ने विचार पक्ष को स्वीकार किया और भाव और भावुकता की अवमानना की। और भी कितने ही आन्दोलन पनपे। अततः रोमांसवाद की अर्थी उठ गई। जो इसके पक्षपाती थे वे पोस्ट मार्टम के परिणामों की प्रतिक्षा के अतिरिक्त कुछ न कर सके।

जब रोमांसवाद के सभी पत्ते झड़ रहे थे, तब सबसे अधिक प्रबल शक्तियां विज्ञान की थी। भाववादी युग के स्थान पर वस्तुवादी युग के चरण मढ गये। बौद्धिकता को प्रोत्साहन मिला। वस्तुवादी दृष्टि का विकास मुख्यतः डारविन के विकासवाद और आगस्त कामटे के पोजीटिविज्म के आधार पर हुआ। परिणाम यह हुआ कि प्रकृतिवाद की ओर आकर्षण होने लगा। सभ्य जीवन की बनावटी तहों के नीचे कहीं पड़ा—सोया प्रकृत-जीवन ने करवट ली। नग्नवास्तविकतायें दहकने लगीं। इन दोनों वैज्ञानिक आन्दोलनों ने आधुनिक युग के वस्तु बोध को बहुत दूरी तक प्रभावित किया। वस्तु के बाह्याकार को अभेद्य न मानकर उसकी आंतरिक और मूल संरचना पर युग-मानस का ध्यान केन्द्रित होने लगा। विकास की आदिम स्थितियां और व्यक्ति मानस की आदिम आहटें अज्ञात यौवना और मुग्धा नायकाओं की भांति मोहक और जादूभरी लगने लगीं। आदिममानस समय के खण्डों को काट कर

स्थित रहता है। इसके साथ पुराने और नवीन का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में यही शाश्वत 'अर्थ' और 'रस' था, जिसकी आधुनिक मन को खोज थी। सामंतवादी और पूँजीवादी सभ्य-युगों का वस्तु बोध इसके सामने निर्जीव और फीका लगने लगा। आदिम साम्यवाद की अवस्था चिर नवीन प्रतीत हुई।

आधुनिक साहित्य में प्रकृतिवाद का प्रवेश हुआ। फ्लाडवेयर जैसे प्रकृतिवादी उपन्यासकारों ने आदिम स्थितियों से निष्पन्न सौन्दर्यबोध को रूपायित किया। मानवीय संवेदना के धरातलों में भी विकास और वैविध्य आया। विज्ञान के साथ मानवेतर, महामानवीय, पराप्राकृतिक और दिव्य 'वस्तु' का ह्रास हुआ। मानव केन्द्रीय वस्तुबोध की साहित्य में प्रतिष्ठा हुई। यह केन्द्रान्तरण महत्वपूर्ण है : पहले धर्म और ईश्वर के केन्द्र पर जो घटित होता था, उससे कल्पना ऊब चुकी थी। ये मूल्य जैसे मूल्यहीन हो गये। ईश्वर धर्म सापेक्ष नैतिकता ढहने लगी : मानव-सापेक्ष नैतिकता ने काव्यवस्तु में युगान्तर प्रस्तुत कर दिया। विज्ञान ने घोषित कर दिया कि आतरिक और बाह्य प्रकृति के सारे रहस्य बुद्धिगम्य हैं। सबके सम्बन्ध में नवीन बौद्धिक परिकल्पनाएँ और संधारणाएँ बनने लगीं।

जब विकासवाद ने जड़ से चेतन के विकास का सिद्धान्त रखा, तो चुनाव, परिस्थिति, योग्यतम की विजय, अस्तित्व के लिये संघर्ष जैसे सूत्र सामने आये। विकास क्रम को परिस्थितियों की सापेक्षता में रखकर यांत्रिक मान लिया गया। इस क्रम में नैतिकता भी परिस्थितियों की सापेक्षता में आई। आत्यंतिक वस्तु केवल एक ही रही बुद्धि। सचेतना के जैवस्तर की बात भी उठी। यह नवीन और नैसर्गिक लगने लगा। मनुष्य कहीं न कहीं अब भी पशु है। इस पशु स्तर पर उतरना एक पिकनिक का सा मजा देता है। मनुष्य के इन जैव स्तरों की गहनता से काव्य की वस्तु चुनी जाने लगी। इस प्रकार साहित्य को एक अभूतपूर्व वस्तु मिली। विज्ञान ने अश्लील कही जाने वाली वस्तु की भी प्रतिष्ठा की। वह नैतिकता हेय है, जो इन नैसर्गिक स्तरों को ढँकने का असफल प्रयास करती है। विज्ञान के प्रारम्भिक चरणों ने ही परिनिष्ठित नैतिकता और मध्यकालीन वस्तु बोध को धराशायी बना दिया। वस्तु बोध को नवीन दिशाएँ मिलीं : वस्तु के नवीन स्रोतों का उद्घाटन हुआ।

इसमें पूर्व को आधुनिकता से सम्बन्धित नये आन्दोलनों की कुछ चर्चा की जाये, मनोविज्ञान की प्रगति पर भी कुछ कहते चलना ठीक होगा। पहले साहित्य में वस्तु अन्तर्मुख यात्रा के संकेत मिल चुके थे। नैतिकता की अस्वीकृति ने आंतरिक प्रकृति में व्याप्त अचेतन वस्तु का द्वार उन्मुक्त कर दिया था। अदमनीय अन्तश्चेतन का अस्तित्व अनुभव में आने लगा था। फिर भी उन्नीसवीं शती के प्रतीकवादियों पर अंतश्चेतनवादी मनोविज्ञान का प्रभाव मानना एक भ्रांति ही

होगी। पर, उसमें जैव धरातल की प्रवृत्तियों की विवृत्ति अवश्य मिलती है। डारविन के प्रभाव से पाशविक इच्छाओं, उनकी अनगढता और उनकी नवीनता के साथ प्रतीकवादियों की सहमति थी। किन्तु मनोवैज्ञानिक खोजों का प्रभाव साहित्य पर 1914–15 से पहले नहीं पड़ा। फ्राडीय प्रभाव से पूर्व 'बर्गसाँ' का प्रभाव प्राउस्ट और जेम्सज्वारस के उपन्यासों पर स्पष्ट प्रतीत होता है।

बीसवीं शती के लगभग द्वितीय दशक में मनोविज्ञान की खोजें साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित करने लगी थीं। इस दशक की दो अन्य घटनाएँ प्रथम विश्व-युद्ध और रूस की क्रांति है। बीसवीं शती के प्रारम्भ में आधुनिकता को मनोविज्ञान नवीन दिशा दी। उच्छृंखल, प्रकृतिवादी वस्तु चेतना को मनोविज्ञान ने एक आधार दे दिया। आदिम वस्तु के स्थान पर आभ्यंतरिक वस्तु की प्रतिष्ठा होने लगी। जागृति और चेतना के प्रति स्वप्न और अवचेतन खड़े होने लगे। चेतन नैतिकता से वर्जित और अवरुद्ध रहता है। इसके निषेधात्मक कटुताएँ जन्म लेती हैं। दमन और कुण्ठा के चक्र से व्यक्तित्व आहत हो जाता है। इसके विपरीत निद्रा, स्वप्न और अचेतन चाहे सामाजिक न हों, पर मन की मुक्त अवस्थाएँ हैं। सामूहिक और वैयक्तिक परम्पराओं में इन मुक्त अवस्थाओं के लिये खतरा है। अतः वर्जनमय नैतिक परम्पराएँ भी प्रायः अस्वीकृत रहीं। कला को भी इनसे मुक्त करने का अभियान चला। मनोवैज्ञानिक वस्तु चेतना की संक्षिप्ति इस प्रकार दी जा सकती है।

अवरुद्ध, दमित अवचेतन की खोज;

अवचेतन की मुक्ति (=अभिव्यक्ति) आवश्यक;

कला इसी मुक्ति के लिये उद्दिष्ट;

बुद्धि जगत के प्रति प्रतिक्रिया : स्वप्न और कल्पना के अनन्त लोक में विश्वास।

सृजन के पूर्व विवेकहीन, बुद्धिहीन, असंबद्ध, विसंगतिपूर्ण स्थिति में कलाकार का प्रवेश आवश्यक;

स्वप्न और सृजन प्रक्रिया में साम्य।

इस प्रकार बीसवीं शती के प्रारम्भ में मनोविज्ञान ने आधुनिकता के प्रकृतिवादी बोध को एक मनोवैज्ञानिक आधार और धरातल प्रदान किया।

नवोदित वैज्ञानिक शक्तियों ने केवल वस्तुबोध को ही प्रभावित नहीं किया, शैली और रूप सम्बन्धी धारणाओं को भी बदला। विज्ञान ने पदार्थ और संरचना के सम्बन्ध में नवीन खोज कीं। पदार्थता के सम्बन्ध में संशय हुआ। स्फटिक (क्रिस्टल) की खोजों ने संरचना और गति की नई सूचना दी। सम्भवतः तत्त्व कुछ नहीं—रचना ही रचना, गति ही गति! इस प्रकार संरचना तत्त्व विज्ञान में महत्वपूर्ण हो गया। साहित्य में भी वस्तु की महत्ता के विपरीत संरचना और गति

की प्रतिष्ठा हुई। वस्तु शैली की संरचना से पृथक् कोई तत्व नहीं है। साहित्य शास्त्र में मान्य 'पदपाक' की सी धारणा को विज्ञान ने बल दिया। जिस प्रकार पदार्थ शक्ति मे और शक्ति पदार्थ मे संक्रमित होती रहती है। उसी प्रकार शैली और वस्तु का सम्बन्ध है। मध्यकालीन दीर्घ रचनाओं और काव्यरूपों की समाप्ति हुई। विज्ञान ने कथन की संक्षिप्ति को बल दिया। रूपगत संक्षिप्ति का विस्तार ग्राहक और पाठक के मन मे संभव है। विस्तार की संभावनाओं से युक्त लक्षणा, व्यंजना की प्रविधि भी संक्षिप्त कथन मे सहायक है। प्रतीक भी इसी अभियान की प्रविधि है। जहां वैज्ञानिक सूत्रों की संक्षिप्तता व्याख्या सापेक्ष होती है, वहां साहित्यिक संक्षिप्तता का विस्तार व्यंजना सापेक्ष है।

उन्नीसवी शती के अन्त से ही या तो कथ्य और संरचना-शैली को परस्पर अभिन्न माना जाने लगा था अथवा वस्तु की अपेक्षा शैली का महत्व बढ़ गया था। कथ्य जब उदात्त और प्रबल होता था, तो शैली गौण हो जाती थी। जब वस्तु स्वयं प्रयोगात्मक स्थिति में थी, तब-शैली रचना को प्रबल होकर वस्तु को उठाना ही था। एक और बात यह हुई कि साहित्येत्तर मान मूल्य कला के मूल्यों पर अध्यारोपित किये जाने लगे थे। यह अध्यारोपण कथ्य वस्तु को लेकर ही होते थे। शुद्ध कलात्मक मूल्यो की सुरक्षा के लिये भी संरचना पर बल देना आवश्यक हो गया। उन्नीसवीं शती के अन्त मे होने वाले प्रायः सभी कला आन्दोलनों ने कथ्य का सर्वातिशायी महत्व स्वीकार नही किया। कवि का दायित्व प्रमुखतः अभिव्यंजना के क्षेत्र मे ही माना गया। आर्नल्ड और टाल्स्टाय ने जो वस्तु की महत्ता के लिये स्वर ऊँचा किया था, वह भी क्षीण हो गया। वास्तव मे कथ्य दर्शन है और शैली विज्ञान। वैज्ञानिक युग में शैली का महत्व प्रतिष्ठित होना स्वाभाविक हो जाता है।

इस प्रकार आधुनिकता की ललक सारे पश्चिमी क्षेत्र मे उन्नसवी शती के उत्तरार्द्ध में ही बढ गई थी। बीसवीं शती मे आधुनिकता अपने आप में एक मूल्य बन गया। विभिन्न देशों में आधुनिकता को प्रतिष्ठित करने वाले आन्दोलन पनपे। उदाहरण के लिये प्रतीकवाद, प्रभाववाद, चित्रवाद, अभिव्यंजनावाद, डाडावाद, अतिवस्तुवाद, को लिया जा सकता है।

प्रतीकवाद ने कला-वस्तु के सम्बन्ध मे व्यापक क्रान्ति की। नैतिकता और उपयोगिता का तिरस्कार किया गया। यहां तक कि व्यावहारिक आचरण में भी प्रतीकवादी नैतिकता से कट गया। 'पाप' को स्वाभाविक और 'पुण्य' को कृत्रिम कहा गया। आचार की प्रेरणाएँ मनुष्य की प्राकृतिक एवं मूल भूमि में खोजी जाने लगीं। परम्परा का पूर्ण तिरस्कार किया गया। परम्परा से चली आती और मान्य सुन्दर वस्तु की अस्वीकृति इनका धर्म बन गया। वस्तु विधान मे गन्दगी, स्वेच्छाचारता, नग्नता, वीभत्स का प्रवेश हुआ। आध्यात्मिक प्रेम के स्थान पर ये लोग दैहिक प्रेम से

भावना वाले वर्गों और पढ़े लिखे वर्गों को सेना से अलग रखा गया। ऊँचे पदों पर हिन्दुस्तानी आ नहीं सकते थे। पठान और सैनिकों की संख्या 1856 में दस फीसदी से भी कम थी। उनकी संख्या 1858 मे 47 फीसदी हो गयी। यह इस बात का पुरस्कार था कि 1857 में इन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया था। स्वाधीनता संग्राम से पहले बिहार और उत्तर प्रदेश की संख्या 90 फीस ही थी। क्योंकि इन्होंने 1857 में अंग्रेजी हुकूमत को जड़ से उखाड़ फेंकने की कोशिश की, इसीलिए शांति के बाद इनकी संख्या 47 फीसदी रह गयी। इस प्रकार सेना नीति भी एकता को समाप्त करने वाली थी।

देश की सामान्य जनता और राजे-रजवाड़ों के बीच भी खाई बनायी गयी। कभी लार्ड डलहौजी ने सामन्तशाही शासकों को निकम्मा बतला कर उनको समाप्त करने की नीति अपनायी थी। अब नीति यह हो गयी कि जो भी रियासतें बच रही है उन्हें ज्यों का त्यो रखा जाये। इन रियासतों के शासकों और वहां की जनता को कूप मंडूप बनाया गया। क्रान्ति की चेतना तो यहां पनपी ही नही, उल्टे इनका वर्ग ब्रिटेन का रक्षक बन गया। ये सब ब्रिटेन के तानाशाही के खिलाफ सिर झुकाये रहते थे। निजाम हैदराबाद जैसे बड़ी रियासत को लार्ड रेडिंग ने यह याद दिला दी कि ब्रिटिश सत्ता सार्वभौम है। मिंटो-मार्ले सुधारों के तहत जो काउन्सलें बनी उनमें बड़े बड़े जमीदारों और व्यापारियों को मन चाहे सीटें दी गयी। इस प्रकार अंग्रेज ने राष्ट्रीयता के प्रमुख आधार एकता की भावना को ध्वस्त करने की पूरी कोशिश की।

राष्ट्रीयता का एक प्रमुख आधार ऐक्य की भावना है। हिन्दुस्तान को प्रकृति ने एक बनाया है। भौगोलिक दृष्टि से भारत एक है। प्राकृतिक संपत्ति जो भारत को प्राप्त है, वह इस प्रकार बिखरी-वितरित है कि देश के एक भाग को दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है : यह सहयोगी स्थिति एकता की भूमिका मे है। पिछले तीन-चार हजार वर्ष के इतिहास ने भी भारत की जनता को एकता दी है। धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक संस्थाएं और गतिविधियां अलग-थलग तो रही हैं, फिर भी उनके बीच सामंजस्य की भूमियां और आदान-प्रदान की क्रियाएं बनती चलती रही। तात्पर्य यह है कि अंग्रेजों के आने-जमने से पहले हिन्दुस्तान की एकता किसी न किसी रूप में कायम रही।

जहां तक विशेषत्व की भावना का सवाल है, अंग्रेजी हुकूमत से पहले भारत की स्थिति दुनियां के चोटी के राष्ट्रों में थी अध्यात्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में भी वह गण या किसी से पीछे नहीं था। ईसा से लगभग सात सौ वर्ष पहले से एक साम्राज्य शक्ति विकसित होती चली आ रही थी। उसके आधार पर एकता और महत्ता की शक्तियां मजबूत होती रहती थीं।

चाहे सारा देश किसी एक शासक के अधीन न रहा हो, फिर भी कुछ ऐसे राजा थे जो भारत सम्राट कहे जाते थे और दिग्विजय आदि के अभियानों से अपने को इस रूप में प्रमाणित करते रहते थे। यद्यपि देश की राजनीतिक एकता सर्वमान्य नहीं है, फिर भी उसकी परम्परा किसी न किसी रूप में चली ही आ रही थी। सन् 1500 ई के आसपास जो मुगल साम्राज्य स्थापित हुआ, वह कई अर्थों में राष्ट्रीय साम्राज्य ही था। यह साम्राज्य-विस्तार हिन्दू-मुसलमानों के मिलेजुले प्रयत्नों का ही फल था। राजपूत शक्ति से जहा मुगलों का विग्रह भी था, वहा राजपूत शक्ति दिल्ली के तख्त का विस्तार भी कर रही थी। अकबर की स्थिति तो हिन्दू मुसलमान से ऊपर एक राष्ट्रीय पुरुष की सी हो गई थी। 1675 में जब इस राष्ट्रीय साम्राज्य का पतन हुआ तो हिन्दुओ ने फिर प्रभाव प्राप्त करना शुरू कर दिया। फिर हिन्दू साम्राज्य का अस्तित्व छुट पुट रूप भी जमने लगा। इसी स्थिति का शोषण अंग्रेज ने कर लिया।

ऊपर भारतीय ज्ञान केन्द्रों की चर्चा की जा चुकी है। इन ज्ञान केन्द्रों की परम्परा में अंग्रेजो ने कुछ जोड़ा। 1791-92 मे एक केन्द्र काशी में खुला। बंगाल मे फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना हुई। अनेक साहसी और अध्यवसायी विद्वानों ने भारतीय संस्कृति, लोक साहित्य, भाषा, इतिहास, पुरातत्व आदि पर गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया। एक प्रकार से प्राच्य विद्या की नींव भारत में पड़ी। डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने उस पर एक संक्षिप्त टिप्पणी की है : "पर कितनो का उद्देश्य पवित्र था, इस पर ध्यान देने पर लगता है कि बहुत कम थे जो हिन्दुस्तान के हित में हिन्दुस्तान की कला-संस्कृति और दूसरी परम्परा का अध्ययन करना चाहते थे। अधिकतर ब्रिटिश राज की सुदृढता के लिए ऐसा नीति वश कर रहे थे।"[1]

इस प्रकार भारत मे सांस्कृतिक नवोत्थान की लहर तो आयी, किन्तु अंग्रेज ने उसको विश्रृंखल या खंडित करने की चेष्टा की। स्वतन्त्रता के अभाव में कभी धर्म के नाम पर कभी संप्रदाय के नाम पर नव जागरण का इतिहास विकृत और खंडित होता रहा। यह सर्व-मान्य है कि विदेशी सत्ता का आधिपत्य किसी न किसी रूप में गति को अवरोध करता है या गति को कम करता रहता है या गति को समुचित दिशा की ओर नहीं बढने देता। जब स्वातन्त्र्य के लिए आन्दोलन होता है, या नव जागरण होता है, गति की शक्तियां तेज होती हैं। अंग्रेज ने भी प्राच्य विद्या के अध्ययन के द्वारा नवजागरण की गति को तेज नहीं किया।

इतना सब होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज और अंग्रेजी के साथ पश्चिम की नवोदित आधुनिकता ने भारत में प्रवेश किया। भारत और पश्चिम के बीच

---

1. संचारिणी, पृ. 43

भाषिक, साहित्य और वैचारिक संपर्क स्थापित हुआ। गद्य, प्रेस, पत्रिकाएँ और गद्य की वे विधाएँ सामने आयीं जो नवीन सामाजिक दृष्टि के प्रचार और प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक होती हैं। भाग्यवाद, अलौकिकता और मानवेतर शक्तियों के नियन्त्रण पर से दृष्टि और आस्था हटी। फिर भी आधुनिकता को लाने में अंग्रेज जाति का सचेतन और ईमानदार प्रयत्न प्रायः नगण्य रहा।

नयी राष्ट्रीय स्थितियां भारतीय भाषाओं के लिए भी चुनौती देने लगीं 'आओ और युग के नये करवटों को व्यक्त करो।' गद्य-रचना की प्रेरणाएँ और आवश्यकताएँ कुलबुलाने लगीं। भाषाओं को नवीन विन्यास की बेचैनी पैदा होने लगी। भारतीय भाषाएँ जिस रूप में थीं, वे नवोत्थान की सारी शक्तियों को मुखरता देने में सक्षम नहीं थीं। वैसे साहित्य में नये विचार घुसने और अपने लिए जगह बनाने में लगे थे। कहीं न कहीं एक भय भी छुपा था कि कहीं भाषा की व्यवस्था में कहीं विदेशी शब्दों का आयात न होने लगे। नये विचारों की प्रेरणा में तो विदेशीपन कुछ न कुछ शामिल था ही क्या हमारी भाषाओं की निर्मल/स्निग्ध और भोली प्रकृति विदेशी शब्दों के आगमन से विकल-विकृत हो जायेगी ? भाषाओं को अपने शक्ति-स्रोतों के आधार पर विकसित होना था, या फिर अपने मिट जाने का दिन देखना था। लेखक पुराने संस्कारों के साथ, भाषा में सहज सौन्दर्य, नयी लोच, नई सम्भावना लाने की साधना में लगे। बोल-चाल की भाषा आकर्षित तो करने लगी, किन्तु तत्सम-तद्भव वाली पुरानी अभिव्यक्ति छूटी नहीं, बल्कि उसे नया बल मिलने लगा : नयी पक्षधरता मिलने लगी। धीरे-धीरे भाषा के पुराने मुहावरे में विशेष गति-मति भी आने लगी। तत्समता की प्रवृत्ति विदेशी की अस्वीकृति और सुधारवादी संस्पर्श के कारण सबल होती गई।

९.३ पहचान

आधुनिक या आधुनिकता की कई परिभाषाएं दी गयी हैं । कभी इसको नगरीकरण (अर्बनाइजेशन) के पर्याय्य के रूप में इसे लिया जाता है और कभी औद्योगीकरण के साथ इसका तालमेल बिठाया जाता है । एक और दृष्टि भारत जैसे देशों के पाश्चात्यीकरण (वेस्टरनाइजेशन) को आधुनिकता मान लेती है । किन्तु ये खंडित दृष्टि ही कही जाएगी । आधुनिक या चाहे आधुनिकीकरण में इन सब की समाई भी हो, किन्तु इन में से कोई अलग रह कर आधुनिकता की समग्र परिभाषा नहीं दे सकता ।

कुछ समाज शास्त्रियों ने यह स्थापित किया है कि इसमें व्यक्तित्व और समाज संरचना के परिवर्तन का तत्व मुख्य है ।[1] इनमें से पहला तत्व वैयक्तिक आधुनिकता का प्रतीक है और दूसरा समाजगत आधुनिकता का द्योतक । इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि आधुनिकता और आधुनिकीकरण एक मनो-सामाजिक (सोस्योसैकलोजिकल) प्रक्रिया है और इनके बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है ।

कुछ ऐसे विचारक भी हैं जो इन दोनों को आधुनिकता की रचना में शामिल नहीं करते । इस विचार के मुताबिक इनमें से पहला तत्व आधुनिकता या आधुनिकी-करण है और दूसरा औद्योगीकरण । जहां औद्योगीकरण की चर्चा आती है वहां यह बात खुद-ब-खुद रूबरू आ जाती है कि आर्थिक तत्व पर अधिक जोर दिया जा रहा है । इस तरह आधुनिकता की बात मात्र अर्थ से जुड़कर अधूरी रह जाती है । कुछ बृहत्तर दृष्टिकोण से देखने पर सच्चाई यह मालूम पड़ती है कि आधुनिकता जिस संरचनात्मक तत्वों में परिवर्तन की बात करती है वह सिर्फ अर्थ तक सीमित नहीं है । अर्थ के

---

1. Smith, David and Alex Inkles, 1966. The OM Scale : A Comparative Soicio - Psychological measures of individual modernitly. Socio- metry, 29, 353-77.

साथ-साथ अर्थेतर सामाजिक संगठन का परिवर्तन भी आधुनिकता अर्थ-परिधि में आ जाता है। अर्थेतर व्यवस्थाओं में राजनीति, सांस्कृतिक, धार्मिक और पारिवारिक स्थितियां भी अपना घोल-मेल रखती हैं। फिर भी यह कोई जरूरी नही है कि औद्योगीकरण या आधुनिकता के साथ-साथ चलने वाली सभी उप-व्यवस्थाएं देश-कालगत सह अस्तित्व रखती हों और यह भी सभी देशों में आधुनिकता की छवियां समान हों। उनमें संरचनात्मक और रूपात्मक भेद भी नही है। प्रभावगत भेद भी हो सकता है। इन इकाइयो के वैविध्य का तुलनात्मक अध्ययन भी हुआ है और इनकी माप के लिए पैमाने भी निर्धारित किये गये हैं।[1] हो सकता है कि इन्ही दो देशों की सास्कृतिक इकाइयो की आधुनिकता के पलडे समान हों, किन्तु इन दो देशो के बीच आर्थिक इकाइयो की आधुनिकता की मापें भी समान हों—यह कोई जरूरी नही है।[2]

आधुनिकता की गति सदा ही रैखिक नही होती। यदि एक ओर परंपरा है तो दूसरी ओर आधुनिकता। ये दोनों एक नैरंतर्य के दो छोर हैं। आधुनिकता दो काम करती है—अपने को स्थापित करना और परपरा को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में लाना। परंपरा और आधुनिकता के इस द्वैत को सभी विचारक स्वीकार नही करते। इसका विरोध अनेक समाज शास्त्रियों ने किया है। इन विरोधियों मे साउथआल का नाम लिया जा सकता है।[3] यह भी ज्ञातव्य है कि कुछ देशों की परपराए ऐतिहासिक अतीत मे बहुत दूर तक जाती हैं और वे कालगति में अपना भविष्योन्मुख अस्तित्व भी बनाये रखती हैं। आधुनिकता के दौर मे भी उनकी सम्भावनाएं झुकी हुई नही दिखलाई पड़ती। इसके विपरीत कुछ देशों की परपराएं बहुत ही कटी-फटी अनियमित और शिथिल होती है। इन दोनों प्रकार के देशों में आधुनिकता की शक्लें भी अलग हो जाती है। इनमे पहले प्रकार का देश भारत कहा जा सकता है और दूसरे प्रकार के देशों मे अफ्रीका के आदिवासियों से भरे भूखण्ड आ सकते हैं। दूसरे प्रकार के देशों मे न तो परंपराएं आधुनिकता के साथ द्वन्द्व में ही आती हैं और न परंपराएं बौद्धिक आधुनिकीकरण की स्थितियां ही बनती हैं।

---

1. Horowitz, Irving L 1972, "Qualitative and quantitative research problems in comparative international development" in social development, Edited by M. Stanley, PP. 6-X6, New York. Basic Books, Inc.
2. उदाहरण के लिए अर्जेन्टाइना और अमेरिका, भारत और चैना को लिया जा सकता है।
3. Southbrall, Aidan 1972, "Community, society and the world in emergent Africa" in social development, PP. 134-68.

आज तकनीकी विकास की गति की प्रकृति सभी देशों में लगभग समान है। किंतु तकनीकी विकास सभी देशों का समान नहीं है। जिन देशों में तकनीकी विकास का स्तर ऊंचा है वे देश सामाजिक विकास और सामाजिक परिवर्तन की एक विशिष्ट प्रक्रिया रखते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तकनीकी विकास में पिछड़े हुए देश आधुनिक नहीं हो रहे हैं। इनमें आधुनिकता अपने ढंग से विकसित हो रही है।

आधुनिकता की गति के संबंध में एक और बात देखी-कही जा सकती है। कभी-कभी समाज का आधुनिकता संबंधी विकास इतनी तेजी से हो जाता है कि समाज के सभी तबके समान रूप से आधुनिक नहीं हो पाते। ये तबके पिछड़ जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि समाज में आधुनिकता की दृष्टि से अविकसित अर्द्ध विकसित जन समूह बना रह जाता है। इन भेदों के कारण कई समाज वैज्ञानिक समस्याएं पैदा होती हैं। भारत की अनुसूचित जातियां और जनजातियां आधुनिकता की दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। अमेरिका जैसे अत्याधुनिक देश में भी हब्शियों और रेड-इण्डियनों को इस दृष्टि से रेखांकित किया जा सकता है। आजादी से पहले तो नहीं, किंतु बाद में इस प्रकार की कोशिशें की गयी हैं और अब भी जारी हैं कि इन पिछड़े हुए वर्गों को आर्थिक और सामाजिक आधुनिकता से जोड़ा जाय। ग्रामीण क्षेत्र आधुनिकता की ओर गिरिजन की अपेक्षा अधिक गतिशील हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये पिछड़े हुए जन समूह आधुनिकता के प्रभाव से पूर्णतः अछूते हैं। चाहे इनकी आर्थिक और प्राकृतिक परिस्थितियां इनके आधुनिकीकरण में आड़े आ रही हों, और चाहे इनकी रूढ़ियां आधुनिकता को बढ़ने से रोक रही हों, फिर भी आधुनिकता चोरी-चोरी इन के जीवन में प्रवेश का रास्ता खोज रही है। फर्क इतना ही है कि इन के आधुनिकीकरण की गति अन्य तबकों या राष्ट्रों की तुलना में शिथिल है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में आधुनिकता का रूप बिलकुल वैसा ही नहीं है और बिलकुल वैसा ही नहीं हो सकता जैसा कि विकसित पाश्चात्य देशों में मिलता है।

किन्तु इस बात को नहीं नकारा जा सकता कि कुछ व्यापक पहचान भी बनी है। मसलन आधुनिकता की एक व्यापक पहचान बुद्धि, विचार बन गई है।

आधुनिक युग की इस पहचान को प्रायः रेखांकित किया जाता है। आधुनिक युग से पहले आस्था और विश्वास का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अब उसमें विचार, तत्व की सघनता है। सुधार-नवजागरण, के युग में ही कवि विचारशील हो चला था। बल्कि यह कि मध्ययुग और आधुनिक युग की विभाजक रेखा ही, विचार तत्व है। विचार के तत्व को प्रधानता मिलने का कारण है—जीवन और समाज की

समस्या मूलकता। सही रूप में भारत 1857 के बाद ही समस्याओं से जुड़ा है । समस्याएं तो सदा ही रहती हैं, पर समस्याओं से जुड़ने का मतलब यह है कि भारत ने बुद्धि और तर्क की दृष्टि से समस्याओं को देखना शुरू किया। समस्याओं के कारण और समाधान के बीच एवं तर्क-क्रम उभरता चला गया साथ ही समस्या जाल भी जटिलतर होता चला गया है।

दूसरी बात यह कि जिन समस्याओं की संवेदना और परिज्ञान हुआ है वे ऐहिक है। समस्याएं पारलौकिकता से मुक्त हुई हैं। इसी अनुपात मे साहित्य भी ऐहिक होता गया है। यदि कही पारलौकिकता घुस ही आती है, तो उसे ऐहिक प्रामाणिकता देने की कोशिश की जाती है। ज्यों-ज्यों ऐहिकता की भूमि साहित्य को मिलती गई, त्यों-त्यो विश्वास और आस्था के तत्व जो प्रकृतित : आत्यंतिक और शाश्वत होते हैं, शिथिल होते गये है और तात्कालिकता अपने तमाम आग्रहों के साथ स्थापित होती गई है। आधुनिक लेखक तात्कालिकता के प्रति उत्सुकता और कुतूहल उगाता गया है अपने गहरे विश्लेषण में छायावादी काव्य धारा भी आधुनिकता की इस प्रक्रिया से विच्छिन्न नहीं है।

ऐहिकता और तात्कालिकता ज्यों-ज्यों साहित्य को अपने में कसती जाती है, त्यों-त्यो ठहराव और परिवर्तन की ताकतों से सरोकार बढता जाता है । ठहराव यथास्थिति और व्यवस्था प्रगति का पर्याय बनता है और उसमे कुण्ठा और घुटन जन्म लेती है। इनसे नव जात पाने के लिए परिवर्तन की शक्तियों को पुष्ट करके क्रान्ति की भूमिका बनाई जाती है। क्रान्ति तर्कपूर्ण व्याख्या और चिन्तन का अग्रगामी चरण है ।

भारतेन्दुकालीन साहित्य तात्कालिक परिस्थितियों से काफी-कुछ जुड़ा हुआ है। उस युग के साहित्यिक में अपनी ऐहिक परिस्थितियो से अपने अनुभवो को एक काव्यात्मक सांचा देने की उतावली और बेचैनी है, चाहे वैचारिक सकल्पनाएं स्थिर न हो पाई हों। हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त मे ऐहिकता का फलक विस्तृत बनता है और मिथकीयता के लिए दिये भी अपनी तर्कपूर्ण प्रामाणिकता को सिद्ध करने की टेक मे है। छायावादी काव्य का रचना विधान इसलिए जटिल है कि वह अपने युग की वैयक्तिक और सामाजिक जटिलताओं को एक ही सांचे मे, एक साथ रख देना चाहता है।

छायावाद ने आधुनिकता के जटिल तत्र को स्वप्न और कल्पना के सहारे आंकने की कोशिश की। यह वह देहरी है जिसके आगे वास्तविकता और यथार्थ के आग्रह अपने लिए ठोस रचनात्मक धरातल खोजने लगते हैं। छायावाद तात्कालिक अर्थों को ठोस और विश्वसनीय आधार नहीं दे पाया था । वैचारिक प्रक्रिया भी निश्चित नही हो पाई। विचार संवेगो से मुक्त होकर अपने निजी रूप में

लिए छटपटाते रहे। परवर्ती रचनातंत्र में संवेग का तत्व शिथिल होता चला गया। संवेगहीन विचारों को साम्यवादी विचारधारा अपनी ओर खींचने लगी। इसी आधार पर 'प्रगति' की शक्तियों को 'स्वच्छन्दता' की शक्तियों से अलग किया जा सकता है। छायावाद से भिन्न एक रचना-साँचा भी उभरते-कसमसाने लगा। रचना और विचार का तंत्र 'परंपरा' के प्रति सशंक और असहिष्णु हो गया। यहां तक कि छायावादी साँचे में लिखने वाला लेखक भी नवोदित रचना दृष्टि में परंपरावादी बन गया। समस्यात्मकता गहरी होकर दार्शनिक भूमिकाओं के बीच प्रस्तुत होने लगी। संघर्ष और विद्रोह की शक्तियां सर्जन की शर्त ही हो गईं। कविता का मिजाज ही विवादी हो गया। तर्क और बुद्धि के आधार और भी दृढ़ हुए। लेखक और ग्राहक के बीच जो रिश्ता कायम हुआ, वह 'प्रभाव' पर नहीं 'बोद्' पर आधारित था। शायद ग्राहक ऐसी रचना का स्वागत करने के लिए तैयार हो रहा था जो उसे बौद्धिक रूप से संतुष्ट कर सके।

इस प्रकार आधुनिकता की पहचान के रूप में 'बुद्धि' और विचार के तत्व का विकास हुआ। आधुनिक रचना-विधान से एक बात और साफ हुई है। पुराने जमाने में बुद्धि-विचार, तथा हृदय-भाव के बीच जितनी चौड़ी खाई दिखलाई पड़ती थी, वह अब उतनी नहीं है। इनका भेद अब उतना स्पष्ट भी नहीं रहा और बेमानी भी हो गया है। साथ ही विचार तत्र और रचना तत्व भी काफी अविभाज्य बने हैं।

आधुनिकता वास्तव में मानवीय इतिहास का प्रकृत विकास है जिसके लिए वर्तमान की परिस्थितियां उत्तरदायित्व होती हैं। जब यह शब्द 'वाद' के साथ सम्बद्ध हो जाता है तो कुछ पूर्वाग्रह या दुराग्रह आधुनिक की अवधारणा में घुस आते हैं। आधुनिकता वादी अतीत के प्रति असहिष्णु होकर उसे निरर्थक कह देता है। उसके अनुसार अतीत और वर्तमान के बीच एक ऐसी अलघ्य खाई होती है जिसको जोड़ने वाला सेतु सम्भव नहीं है। अतीत मनुष्य और अतीत समाज वर्तमान से पूर्णतः विच्छिन्न होते हैं। उनके मूल्य वर्तमान में अमान्य हो जाते हैं। आधुनिक समस्याओं की सुलझाने में अतीत का कोई योगदान नहीं रहता। इसलिए अतीत अनुपयोगी हो जाता है। अतीत की कला कृतियों का वर्तमान मानस के साथ कोई सौंदर्य-बोध परक सम्बन्ध नहीं रह जाता।

भौतिक और औद्योगिक आविष्कार मनुष्य की प्रकृति तत्व को बदल देते हैं। इसलिए उसकी वर्तमान प्रकृति मूल मानवीय प्रकृति के विकास की कड़ी नहीं रह जाती। इसीलिए मानवीय संस्कृति ही निरर्थक हो जाती है।

तटस्थ दृष्टि से देखे जाने पर ये सभी पूर्वाग्रह निर्मूल सिद्ध हो जाते हैं। मानव की मूल प्रकृति किसी न किसी रूप में मनुष्य की विकास यात्रा में रहती है। मनुष्य के सार्वभौमिक स्वभाव की अवधारणा पर ही उसकी संस्कृति की

सार्वभौमिकता संभव होती है। विश्वव्यापी समाजवाद की भूमिका में भी यही अवधारणा है। कोई बड़ा वातावरणिक प्रभाव मनुष्य की प्रकृति को आमूल बदल देने में समर्थ नहीं होता। इतिहास मे कभी ऐसा नही हुआ कि मनुष्य के स्वभाव की मूल वृत्तियां एकदम बदल जाये। ऐसा तो हो सकता है कि किसी युग में एक वृत्ति का प्राधान्य हो जाय और दूसरे युग में दूसरी वृत्ति का। अतीत से वर्तमान का पूर्ण विच्छेद मानव इतिहास मे कभी आज तक नहीं घटित हुआ। सामाजिक परिवर्तन भी कभी आमूल चूल नही हुआ। बदलने की सारी प्रक्रिया के बावजूद भी कुछ सार्वभौम मूल्य बने रहते हैं—प्रेम, उपकार, करुणा आदि। हां, अतीत के कुछ तत्व वर्तमान मे अप्रासंगिक अवश्य हो जाते हैं। रूस जैसे साम्यवादी देश मे भी पुराने साहित्य के मूल्य को पूर्णतः अस्वीकृत नहीं किया गया। आधुनिकता की सीमाओं को बहुत अधिक संकुचित करना आत्मघात ही होगा। किसी मूल्य को ग्रहण करने या उसको अस्वीकृत करने के पीछे एक स्वस्थ तर्क आवश्यक होता है।

एक दुराग्रह यह भी है कि आधुनिक मनुष्य आस्थाहीन हो गया है। किन्तु मनुष्य की मूल प्रकृति की रचना में आस्था एक अनिवार्य तत्व है। एक समान आस्था के आधार पर ही सामाजिक संगठन खड़े होते हैं। आस्था का अभाव सर्वनाश को भी आमंत्रित कर सकता है। रूस की आस्था लेनिन मे है और चीन की आस्था माओ मे है, यूरोपीय देश उदारवादी राष्ट्रीयता मे आस्था रखते हैं। आस्था विहीनता राष्ट्र की दुर्बलता बन जाती है। यह सच है कि आधुनिक युग में सार्त्र और काम्यू जैसे विचारकों का अनास्थावादी दर्शन भी आया है, किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक और नैतिक आधार नही बनता। पूर्वी जर्मनी, रूस और चीन विश्व युद्ध की ज्वलंत विभीषिका से तो अवश्य गुजरे हैं, पर वे किसी प्रकार निराशावादी या अनास्थावादी नहीं हुए हैं। आश्चर्य की बात है कि फ्रांस और इंग्लैंड जैसे देश थोड़े समय ही नाजी विभीषिका से ग्रस्त रहे, फिर भी वहां निराशा और अनास्था ने अपना डेरा डाला। वास्तव में अनास्थावाद का स्वर वे ही वर्ग अलापते हैं जिनका विलासी जीवन अब छिन्न भिन्न हो गये हैं या हो रहा है।

तात्पर्य यह है कि आधुनिकता को संकीर्ण अर्थों में बांधने की चेष्टा उसके मूल अर्थ को समाप्त करना ही है। आधुनिकता के कुछ सूत्रों की पहचान अतीत के साहित्य और संस्कृति में भी खोजे जा सकते हैं। जो आधुनिकता को अत्यन्त संकीर्ण दायरे में बांधे रखना चाहते है वे मुद्राजीवी हैं और ऐतिहासिक सत्य के प्रति ईमानदार नहीं हैं।

जब आधुनिकता हमारे बाहरी आचारों तक सीमित हो जाती है तो वह एक रोग बन जाती है। उदाहरण के लिए आज की नगरीय वेष-भूषा, खान-पान, सेक्स और फैशन मे रुचि आदि आधुनिकता के वाचक बन गये हैं। अमृतराय ने इस रोग

की ओर संकेत करते हुए लिखा है : "फिलहाल हमारा सार ध्यान, सारा आग्रह, वाह्य आचार की आधुनिकता पर है। और मन की सच्ची आधुनिकता जो कि असल चीज है, उसकी ओर ध्यान देने वाले कम हैं।"[1] आधुनिकता का सम्बन्ध मन की संस्कारिता से है जिसका आधार मनुष्य की तर्क चेतना बन गया है। मन का संस्कार इस प्रकार का हो जाये कि मध्य युगीन रूढ़ियों से छुटकारा मिल सके। मध्य युगीन समाज व्यवस्था और अर्थ व्यवस्था सामन्तवादी थी। आर्थिक और सामाजिक शक्तियों ने उसके स्थान पर पूंजीवादी व्यवस्था को कायम किया। आज इसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था जमाई जा रही है। इसके कारण आधुनिक मन का संस्कार और उसका सामाजिक वातावरण बदल रहा है। कुछ लोग तो यह विश्वास करते हुए दिखलाई पड़ते हैं कि मनुष्य अब समाजवाद की व्यवस्था छोड़ेगा नहीं। वह केवल उसमे आयी हुई बुराइयों को दूर करता रहेगा। फिर भी यह कहना अतिवादी ही होगा कि आधुनिकता समाजवाद का ही पर्याय है। आधुनिकता वह दृष्टि है जो अपने सामाजिक परिपार्श्व को नवीन ज्ञानविज्ञान के प्रकाश मे देखता और उसे विश्लेपित करता है।

आधुनिकता की एक पहचान मुक्ति की तलाश है। आधुनिक मनुष्य अपने को और अपने भाग्य को धर्म निर्दिष्ट परमानवीय शक्तियों को सौंप कर अपनी आजादी को खोना नहीं चाहता। वह स्वयं अपने भाग्य का निर्णायक बनना चाहता है। वह यह भी नही चाहता कि वह अपनी कला और सृजन को किसी सामन्त या महाजन के हाथ बेच दे। आजादी मनुष्य का स्वभाव है। यदि तटस्थ रूप से देखा जाये तो स्वाधीनता का अपहरण पार्टी प्रतिबद्धता के नाम पर भी किया जाता है। आज वह मनुष्य किसी हिप्नोटिज्म मे नहीं रहना चाहता। वह ग्रहण और त्याग में तर्क और बुद्धि के औजारों के इस्तेमाल पर उतारू है। आजादी की यह अदम्य इच्छा कभी स्वच्छन्दता बनकर कभी राष्ट्रीय आन्दोलन बन कर आधुनिक युग में प्रकट होती रही।

वास्तविक बात यह है कि आधुनिकता न किसी देश की चौहद्दी मे बन्धती है और न काल की संकीर्ण सीमाओ मे। आधुनिकता किसी अमेरिका जैसे बड़े देश की बपौती नहीं है। उसका अवतरण कहीं भी हो सकता है और हो भी रहा है। काल की दृष्टि से यद्यपि आधुनिकता की आवाज वर्तमान मे उठी है किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह वर्तमान से जकड़ी हुई है—न अतीत से सरोकार न भविष्य से। अतीत की सांस्कृतिक और सामाजिक सक्रियता मे भी कुछ न कुछ आधुनिकता देखी जाती है और आधुनिक युग में आधुनिकता के अतीतस्थ टुकड़ो के साथ रिश्ते भी

1. सह चिंतन, पृ. 30।

कायम किये जाते हैं। उसकी आधुनिक प्रासंगिकता की तलाश भी की जाती है–कहीं ऐसा न हो कि अन्धाधुन्ध आधुनिकता के दौर में अतीत के कोई मूल्यवान उपलब्धि छूट जाय। फिर भी सावधानी बरतनी होनी है कि यह रिवाइवलिस्ट प्रकृति की कोई चीज न बन जाय। सच्ची आधुनिकता वर्तमान में खड़ी होकर भविष्य को देखने का उपक्रम भी करती है। फिर भी यह सावधानी बरतनी होती है कि भविष्य दृष्टि किसी 'भविष्य बात' में फंस कर न रह जाये और जाने-अनजाने कोई यूटोपिया चेतना को न घेर लें। कविता एक ओर अपनी सांस्कृतिक विरासत को रचनात्मक करती है और अपने वर्तमान को संश्लिष्ट रूप में देखकर भविष्य को जीवंत करती है यही आधुनिक कविता की सही पहचान है। अब उसका क्षेत्र सीमित और अन्त-र्मुख नहीं रहा। राजनीतिक और सामाजिक शोषण के खिलाफ एक-जनवादी मान-सिकता तैयार करना उसने अपना फर्ज मान लिया है।

आधुनिक के सम्बन्ध में एक और भ्रान्ति है। एक विचार ऐसा बन गया है आधुनिकता मूल्यहीनता है। वास्तव में आधुनिक मानस सही और जीवन मूल्यों की पहचान करता है और उन फरीबों के प्रति सजग हो जाता है जो मूल्य के नाम पर एक मृतभार को पीढ़ियों पर लादना चाहते हैं। मृत-मूल्य वे कहे जाएंगे जिनसे हमारी जिन्दगी का रिश्ता नहीं बन पाता। एक जगह धूमिल ने स्पष्ट किया :

"यह मूल्यहीनता नहीं है, केवल स्वीकृत मूल्यों से इसका ताल-मेल नहीं बैठ पा रहा है।" आधुनिक मानस किसी भी विचार और वस्तु को अपने देश-काल के प्रयोगशाला में रखकर जांच लेना चाहता है मूल्यहीन होकर तो जीवन असम्भव ही हो जाता है। यह जांच परक बुद्धिवादी युग की विशेषता है और आधुनिकता का पहला शर्त है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता केवल विज्ञान की भौतिक प्रतिकृतियों तक सीमित नहीं है। वह एक सजक मानसिकता है— एक सक्रिय व्यक्तित्व है। 'सजगता अपने परिवेश के प्रति होती है, अपने समाज के प्रति होती है, समाज के गंतव्य के प्रति होती है, समाज द्वारा तैय की गई राह के प्रति होती है, अपनी क्षमता और अक्षमता के प्रति होती है।[1]" सजगता स्वयं आधुनिकता की प्रक्रिया के प्रति भी होती है। कहीं ऐसा न हो कि आधुनिकता के नाम पर अनाधुनिक न घुस आये! आधुनिकता मात्र मुद्रा बनकर न रह जाये! आधुनिकता कहीं बाहरी फैशन के रूप में न ओढ़ ली जाये! आधुनिकता किसी अंधी नकल का नाम न हो जाये।

नकल की प्रवृत्ति तो भीतर-बाहर घर कर गई है। यह इसलिए हुआ है कि हमारे एक बहुत बड़े तबके ने आधुनिकता का प्रतिमान पश्चिम को मान लिया है।

---

1. डा. विद्या निवास मिश्र, संचारिणी, पृ. 22

इसलिए आधुनिकता और आधुनिकीकरण की समग्र प्रक्रियाओं को पश्चिम के नज़रिये से देखकर प्रमाणित करने की कोशिश की जाती है यह भूल जाता है कि भारत में आधुनिकता अपने निजी ढंग में आयी है : उसका अपने स्रोतों और विरासत से बहुत गहरा सरोकार है। इसके फलस्वरूप आधुनिकता की मुद्राएं पैदा हुई हैं। यह भी भूल जाया जाता है कि आधुनिकता बोध पश्चिम के वहां की समस्याओं में जन्मा है और हमारी समस्याओं ने भारत के रूप को संवारा है। "पश्चिम कालबद्ध चेतना के त्रास से मुक्ति पाने की राह देख रहा है, उसकी आधुनिकता इस चुभन से प्रमाणित होती है कि इतिहास केवल एक चक्की रह गया है जिसमें अतीत को निर्विवेक ढंग से पीसा जा रहा है और यह पिसान कच्चा माल है, एक अनिवार्य भविष्य के निर्माण के लिए हम लोग जो इतिहासी बीमारी से उतने ग्रस्त नहीं हैं और अज्ञेय के शब्दों में 'काल के निरवधि शाश्वत आयाम में और आधुनिक इतिहास की सतही समाजबद्धता में अब जी एक साथ जी सकते हैं : उनकी आधुनिकता इतिहास के त्रास की पहचान में नहीं है, आधुनिक समाज व्यवस्था और आधुनिक यन्त्र-उद्योग की उपजाइ टूटने में जुड़ाव की पहचान में प्रमाणित होगी। इसलिए पश्चिम के लिए इतिहास की आस्था एक दुस्सह बोझ हो सकती है, पर जिनके ऊपर यह बोझ रहा नहीं और जिनकी आस्था ही नित्य सनातन लीला में रही हो, उनकी आस्था उनकी आधुनिकता से और सार्थक होगी।"[1] यह सच है कि आधुनिकता की बाहरीय आकृतियां विकसित, अर्द्ध विकसित और अविकसित देशों में हो सकती हैं-होती हैं। पर यह भी मान लेता है कि आधुनिकता की कुछ गहरी और सार्वभौम पहचानें भी होती हैं जिनका सम्बन्ध मूल मानव प्रकृति से जोड़ा जा सकता है। साथ ही आधुनिकता के प्रतिमान निश्चित करने में किसी देश की मूलसंस्कृति, मूल जीवन दृष्टि और उसके प्रत्ययों को नजरंदाज नहीं किया जा सकता है। आधुनिकता एक साथ ही कालबद्ध चेतना भी है और काल के नैरंतर्य के साथ भी गतिशील रहती है। काल दृष्टि से भारतीय आधुनिकता 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जमी-उगी जीवन दृष्टि है। किन्तु मध्य युग के संत अपने समय में कम आधुनिक नहीं थे जिन्होंने पुराने जीवन मूल्यों के प्रति सजग होकर स्तर भेदों वाले समाज को चुनौती दी थी।

---

1. विद्या निवास मिश्र, संचारिणी, पृ. 23.

१.४ स्थायी सत्य और आधुनिकता

साहित्य के शाश्वत-सत्य और सिद्धान्त को इस युग में आधुनिकता और 'प्रगति' के सबल थपेड़े झेलने पड़े हैं, और आज भी झेलने पड रहे हैं। काव्य की रसात्मक अनुभूति के कुछ स्थायी स्तम्भ मानने पड़ते हैं। शाश्वत सत्यों पर आधारित दर्शन, भावात्मक परिणति की स्थिति में ढलता-पिघलता हुआ रसात्मक अनुभूतियों का रूप ग्रहण करता है। क्षणिक आवेशों और क्षणिक-भावस्फतियों का अपना छविजाल होता है—झीना और स्वर्णिम। पर उसमें स्थायी रसात्मक अनुभूति नही होती। कवि अपने चिन्तन को क्षणों का भावात्मक प्रक्रिया से ही स्थायित्व प्रदान करता है।

संसार के साहित्य से एक स्थायी भावना का उदाहरण दिया जा सकता है। भावात्मक रहस्यवाद की धारा में एक भावना मिलती है : 'मैं और 'तू' एक हो जायें। वेद की ऋचा है : यदग्ने स्वामहं त्वं त्वं वा स्यामंह। ''तू' मैं हो जाऊं और मैं तू हो जाऊं। रवीन्द्र के शब्दों में यह सत्य कितना सुन्दर बन पड़ा है। 'सीमार माझे असीम तुमि।" फारसी का एक कवि इस प्रकार कहता है—

मन तु शुदम, तु मन शुदी, मन तन शूदम, तु जा शुदी।
तो कम न गोयद बाद अजी, मन दीगरम तू दी गरी॥

मैं देह बनूं, तुम प्राण। ऐसा होने पर कोई न कह सकेगा कि मैं और तुम पृथक् पृथक् हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी यह भाव व्यक्त किया है : "देहे प्रार मने प्राणे हये एकाकार।" इसी प्रकार विश्व काव्य में, आत्मा के विश्वात्मा मे लीन हो जाने की मधुमय व्याकुलता के स्वर गूंज रहे हैं। इस आध्यत्मिक मिलन की अभिव्यक्तिक प्रिया-प्रियतम के मिलन के सांसारिक भाव और कभी सख्य-भाव के अप्रस्तुत-विधान से होती आई है। जब आध्यात्मिक विलय के संकेत स्वर डूब जाते हैं तो लौकिक काव्य की रचना होती है। जब ये स्वर केवल धीमे हो जाते हैं, तो रहस्यवादी

काव्य की सृष्टि होती है। जब लौकिक प्रेमातिशय्य और मिलन के अप्रस्तुत का अवलम्ब छूट जाता है, तो काव्य नहीं, दर्शन जन्म लेता है। लौकिक प्रेम और मिलन मात्र अप्रस्तुत नहीं, यह अलौकिक प्रेम का ज्वलनशील आवेश और अप्रतिहत आवेग भी प्रदान करता है। साथ ही यह लौकिक भाव ही आध्यात्मिक विलय की प्रेरणा का स्रोत भी हो सकता है। दर्शन शास्त्र की भावनात्मक सरसता भी इसी से मिलती है। वेद के एक मंत्र में आत्मा को हंस माना गया है। वह अपने अनन्त मिलन की यात्रा में उड़ा जा रहा है—उड़ा जा रहा है।

सहस्राण्यं वियुतावस्य पक्षी
हरे हंसस्य पततः स्वर्गम्
स देवान्सर्वान् रस्यु पदस्यं
स पश्यत् याति भुवनानि विश्वा

विश्वात्मा से वियुक्त हंस अपने परम सखा से मिलने के लिए अनन्तकाल से उड़ रहा है। यह है सत्य के आधार पर स्थायी सत्य की अभिव्यक्ति। आत्मा और परमात्मा परम सखा हैं। उपनिषद् का यह वाक्य द्रष्टव्य है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानवृक्षं परिषस्व जाते
तयोरन्य, पिप्पलं स्वाद्वत्य
नश्ननन्यो अभिचाक शीति

दो पक्षी जो सुपर्ण एवं समवयस्क होने से सखा है, एक ही वृक्ष की डाल पर बैठे हैं। इतने में एक भोग्य पदार्थ का आस्वादन करता है। दूसरा दर्शन मात्र से बिना चखे ही। उसका आनन्द ले लेता है। वह दोनों पक्षी आत्मा और परमात्मा है, जो संसार रूपी वृक्ष पर विराजमान हैं। यह सत्य की साहित्यिक परम्परा का आध्यात्मिक बीज है। साहित्य में सत्य अनेकधा अनेकत्र व्यक्त हुआ है। सूर ने तो उस भाव को अमर ही बना दिया है। प्रिया और प्रियतम के प्रेम और मिलन के आधार पर आध्यात्मिक विलय की अभिव्यक्ति अत्यधिक हुई है। शृङ्गारात्मक रहस्यवाद की परम्परा है। प्राचीन काव्य में ही नहीं, अधुनातम काव्य में भी यह स्थायी सत्य प्रायः व्यक्त हुआ है। शमशेर बहादुर सिंह की एक कविता देखिये—

लौट आ ओ धार
टूट मत ओ साँझ के पत्थर

(मैं समय की एक
मौन हूँ

लौट आ ओ फूल की पखुड़ी
फिर
फूल में लग जा
चूमता है फूल को फिर फूल
कोई हाय

लौकिक प्रेम के अप्रस्तुत के साथ प्रकृति के उपकरण सम्बद्ध होकर अनुभूति और अप्रस्तुत का विस्तार भी करते हैं। प्रकृति अचेतन तो अवश्य है, पर अमृत ज्योति किरण के संस्पर्श से वह आत्मरूप हो जाती है। उपनिषद के अनुसार प्रकृति भी आत्म प्रसून है उसका आत्म तत्त्व ही उसका स्थायी सत्य है। उसका अनात्म रूप है, माया जन्य क्षणिक जड़ी भूत अवसाद। मनुष्य के आत्म तत्त्व से विकीर्ण किरणें इसका नवीन शृंगार कर सकती हैं। मानव चेतना के संस्पर्श से प्रकृति से प्राप्त जड़ 'अप्रस्तुत' विस्मृत आत्म-स्पन्दनों का अनुभव करने लगता है। यही मानवीकरण की भारतीय पृष्ठभूमि है। शैली बदलती है। काव्य रूप बदलते हैं, पर यह स्थायी सत्यों ही बना रहता है। श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है "केवल पृष्ठभूमि बदली है या उपमान बदले हैं नये कवियों ने शैली में नये प्रयोग अवश्य किये हैं, परन्तु मूल भावना वही रही है, जो हजारों वर्ष पहले थी। कहने की शैली में कुछ अस्पष्टता आ गई तो छायावाद बन गया और शैली में अटपटे और बेतुके प्रतीत होने वाले उपमानों का सहारा ले लिया गया तो प्रयोगवादी कविता बन गयी। मुख्यतः कथा की विषय वस्तु वही है जो हमारे आद्य कवियों की थी।"[1]

वास्तव में जीवन के कुछ मूलभूत स्थायी सत्य हैं जो परिवेश के अनुसार अपनी अभिव्यक्ति के नवीन उपकरणों के आश्रय से युग के स्वरों को जन्म देते हैं। आज के कुछ विचारक शाश्वत सत्यों के सिद्धान्त में गतिरोध और अगति के लक्षण देखते हैं। पर आज की आधुनिक कही जाने वाली कृतियों में मानव जीवन के आदिम प्रश्नों की गूंज विद्यमान है। प्रश्नों की दिशाएं और उनके हल आधुनिक हो सकते हैं, होने चाहिए। मूल स्थायी सत्य है— विघटन और विकर्षण से उत्पन्न मानव मन की विकलता और उससे मुक्ति पाने के संघटन और आकर्षण (मिलन) की शक्ति की खोज और पुनर्स्थापना। इसी सत्य की परिणति भिन्न भिन्न रूप में सर्वत्र होती है। सत्य की अभिव्यक्ति भी एक अनिवार्य सत्य है। साहित्य उस सत्य की ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें व्यङ्ग और प्रेषण के माध्यम के बीच एक अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता है। कवि की साधना इसी सम्बन्ध की स्थापना करने के लिए है।

1. गन्ध दीप 1963 पृ. 12।

काव्य के स्थायी सत्य और उसके शाश्वत मूल्यों में अविश्वास ध्वनितवादी दर्शन की देन है। सामाजिक परिणति की दृष्टि से मार्क्स ने भी मानव जीवन के किन्हीं शाश्वत मूल्यो को स्वीकार नही किया था। वे साहित्य और संस्कृति को केवल बाह्य उपलब्धि के रूप मे मानते थे। इतना होते हुए भी मार्क्स, एंजिलतत्स तथा एक सीमा तक लेनिन भी साहित्य के स्थायी तत्त्व को स्पष्टतः और पूर्णतः अस्वीकृत नही कर सके। यह उनके सिद्धान्त के अन्तर्विरोध का ही परिचायक है। इस प्रकार के अन्तर्विरोध मे पड़कर द्वान्द्वात्मक भौतिकवाद साहित्य मे मूल्यो की स्थापना के प्रयत्न में असफल रहा। यूरोप मे तथा उससे प्रभावित समीक्षा-सिद्धान्तों मे भी मूल्यगत अनिश्चय ही मिलता है। सर्वथा अभाव नही।

इतिहास की शाश्वत धारा मे मानव के विचारो में आन्दोलन होते रहे हैं। पर सभी आन्दोलनो मे एक आंशिक सत्य ही रहता है। एक सीमा तक ही ये मानव के जलते हुए प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करते हैं। जब उस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तथा उसे मानव जीवन के सन्दर्भ में अन्तिम शब्द के रूप मे घोषित किया जाता है, तब उसकी सत्यात्मक शक्ति का ह्रास होता है। वह प्रगति का सहायक न होकर उसका बाधक बन जाता है। इस स्थिति में एक संक्रान्ति युग मानकी सर्वतोमुखी व्यवस्था की सम्भावनाएं लेकर प्रस्तुत होता है। साहित्य और जीवन के मूल्यो मे कुछ अन्तर रहता है। साहित्य जीवन को समग्र रूप से ग्रहण करता है इसीलिये इसमें सत्य की देश कालगत सीमाओ से निरपेक्ष स्थिति आ जाती है। वैसे उसमें युगीन जीवन की सीमाएं तो अव्यक्त नहीं रहतीं। पर जीवन मे सन्तुलन का जो आधार साहित्य मे ग्रहण किया है, वह युग युग से मानव के जीवन में समान ही होता है। इसी सन्तुलन का नाम है सौन्दर्य बोध। सौन्दर्य बोध ही समीक्षा और साहित्य का स्थायी मूल्य है। इस मूल्य को भी रूढ़ नहीं मानना चाहिये। यह भी सतत विकासशील एवं परिवर्त्तमान होता है। साहित्य अन्तर बाह्य व्यक्ति और समाज का ऐसा समुचित सामञ्जस्य प्रस्तुत करता है और जीवन को इतनी पूर्णता के साथ ग्रहण करता है कि देश काल गत सीमाओं के होते हुए भी, उसका सामञ्जस्य मय सत्य सार्वदेशिक, सार्वकालीन और सार्वजनीन बन जाता है। यहा स्थायी को स्थिर समझने की भ्रान्ति नही होनी चाहिये। स्थायी सत्य भी अपनी बाह्य परिणति और सज्जा में सतत विकासशील है। उसकी आत्मा देशकाल की सीमाओ से निरपेक्ष रहती है।

एक और दृष्टि से साहित्य के स्थायी सत्य को समझा जा सकता है (जीवन और चेतना का विकास परम्परा से पूर्ण विच्छिन्न नहीं हो सकता। साहित्य जीवन के जिस अंश को ग्रहण करता है, वह अपने आप मे निस्संग) असम्पृक्त अथवा निरपेक्ष नही होता। उस सामाजिक अथवा वैयक्तिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में एक

क्रमिक और दीर्घकालिक परम्परा चली आ रही होती है। इस प्रकार साहित्यकार एक ओर अपनी अनुभूति और समकालीन समाज से सम्बद्ध है तथा दूसरी ओर उसके द्वारा ग्रहीत जीवन एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक परम्परा की कडी के रूप में भी रहता है। कोई भी साहित्य या साहित्यकार इतिहास की चिरन्तन प्रवहशील धारा से सम्बद्ध होने की बात नही कह सकता। सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में प्राप्त जीवन मूल्य युग युग मे मूलतः परिवर्तित नहीं होते। इसका कारण यह है कि इस अविच्छिन्न प्रवाह में जीवन का कोई न कोई समान आधार बना रहता है, जो देश-काल की विकासशील परिस्थियों में समान रूप मे अन्तर्निहिन होता हुआ मानव के अन्तर्मन को समान रूपेण प्रभावित करने मे सक्षम रहा है और भविष्य में रहेगा।

क्या वास्तव मे साहित्य में स्थायी नाम की कोई वस्तु है? यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। प्रगतिवादी या मार्क्सवादी सिद्धान्त स्थायी साहित्य के सिद्धान्त को मानकर नही चलता। सौन्दर्यवादी या शास्त्रीय आलोचना साहित्य के स्थायी और अस्थायी स्वरूपों को स्वीकृत कर चलती है। यह सत्य है कि प्रत्येक युग-परिवर्तन साहित्य को भी प्रभावित करता है और युग पर्वातित प्राय. होते ही रहते हैं। अतः साहित्य भी गतिशील रहता है। पर निरन्तर गतिशील जीवन की कुछ ऐसी आधार भूमिया भी हैं जो परिवर्तन मे भी अपरवर्तित रहती है। वे पुरातन नही चिरनवीन हैं इसी प्रकार साहित्य की भावना में भी सामयिकता के साथ साथ कुछ अनश्वर तत्व भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध जीवन की स्थायी आधार भूमियों से है। जीवन की आधार भूमियों से तात्पर्य कुछ ऐसी प्राकृतिक प्रवृत्तियों से है जो अपने व्यावहारिक पक्ष को युग के अनुसार परिवर्तित करती हैं पर अपने में चिरनवीन हैं। ये ही मनुष्य के क्रिया कलाप को शाश्वत स्रोत हैं। इन्ही में सृजन और विनाश की प्रेरणा निहित है। अपने सृजन को स्थायित्व प्रदान करना भी मानव मन की एक विकल आकांक्षा रही है। अपने सृजन मे मानव अपने अहन्ता की परिणति देखता है। अहन्ता के आधारभूत भौतिक तत्वों के विकसित हो जाने पर भी वह उसे ऐसे उपकरणों मे बांधकर जाना चाहता है, जो अनिश्वर स्रोत से ग्रहण किये जाते हैं। सृजन को इस प्रकार संयोजित करके उसे अपने अमरत्व की आकांक्षा-लता के विस्तार की सूचना मिलती है। मनुष्य की स्थायित्व सम्बन्धी आकांक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब प्रश्न यह है: क्या साहित्य में स्थायी और अस्थायी को पृथक् करने वाली कोई स्पष्ट रेखा खीची जा सकती है? क्या निरन्तर गतिशील सामाजिक जीवन के कारणों और प्रेरणाओं पर रचा हुआ साहित्य अस्थायी है? और मानव मन के नैसर्गिक स्तरों से सम्बन्धित कारणों से रचा हुआ साहित्य स्थायी? इसमें सन्देह नहीं कि सामान्यतः सामाजिक कारणों से प्रेरित साहित्य युग के परिवर्तन के साथ

स्वर मिलाता है। इसीलिये सामाजिक विश्लेषण करने वाले विचारक समाज की गतिशीलता मे विश्वास रखते हैं और स्थायी साहित्य के नाम से हिचक जाते हैं। स्थायी साहित्य की चर्चा विचारकों का वही वर्ग करता है जो मानवीय मूल्यो महत्ता और उनकी शाश्वतता मे विश्वास रखता है और मानव मन के वैयक्तिक पक्षो को नकार कर नही चलता है। वह मानव मन के स्थायी पक्षों की स्वीकृति, साथ साथ उनकी युगानुकूल परिणति मे विश्वास करता है। इस प्रकार स्थायी के साथ वह आधुनिकता को भी साथ लेकर चलता है। महान साहित्यकार उच्चतम मूल्यों में विश्वास भी जागृत करता है और अपने चतुर्दिक् दृश्यमान जगत की हलचलों से भी असम्पृक्त नही रहता। इस प्रकार महान कलाकार सोद्देश्य होता है। उसका उद्देश्य समर्थन या विरोध दोनों ही हो सकते हैं। प्रेमचन्द जी इस स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है– "साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश मे उठती है तो साहित्यकार के लिये उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देशबन्धुओं के कष्टो से विकल हो उठती है और उस तीव्र विकलता मे वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।" प्रगतिवादी, अथवा क्रान्तिकारी कहे जाने वाले विचारक का यह कथन अपने आप में एक सत्य चिन्तन को समेटे [illegible]। इसकी सत्यता संसार की महान् प्रतिभाओं के उदाहरणों मे पुष्ट है। चाहे अपने देश के वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, भास, भारवि, सूर, कालिदास, तुलसी, रवीन्द्र और प्रसाद को लिया जाय, चाहे विदेश के शेक्सपियर, मिल्टन, शैली, कीट्स, पुश्किन, टाल्स्टाय, गोर्की, ज्विग, तुर्गनेव, दॉस्तोवस्की आदि को लिया जाय, सभी में देशकाल के अन्तर्गत ही सार्वभौमिकता विद्यमान मिलेगी। सभी में अस्थायी सामाजिक प्रकृति या विकृति के चित्रों के बीच ही अविनश्वर तत्वों की झलक विकसित होगी।

साहित्य की व्यापकता या उसके व्यापक प्रभाव के मूल में स्थायी जीवन भूमियो की स्थिति माननी चाहिये। किसी रचना को व्यापक बनाने में मानवी प्रकृति मे सामान्य रूपों में मिलने वाली विशेषताओं की प्रतिभ परिणति का हाथ रहता है। *यह स्थायी केन्द्र बिन्दु-ध्रुव कभी लोक मंगल की संज्ञा पाता है, कभी शिव की* और कभी सौन्दर्य की। वास्तव में इनमें कोई मौलिक अन्तर नही है। तुलसी साहित्य का स्थायी केन्द्र बिन्दु लोक मंगल था और सूर का सौन्दर्य। सुमित्रानन्दन पन्त लोक मंगलकारी साहित्य की चर्चा करते हुए मानते हैं : "मांगल्य, जो बहुमुखी मानव सत्य की एक मात्र कसौटी है।" दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी विचारक कला की चरम सार्थकता सौन्दर्य मे मानते हैं। महाकवि गेटे और कीट्स विश्व के सृष्टा और चरम सत्य के रूप में सौन्दर्य को देखते थे। इस प्रकार लोकमंगल और सौन्दर्य दोनों ही यहां साहित्यकार के स्थायी केन्द्र बिन्दु के प्रतीक हैं।

आवश्यक नहीं है। पर ऐसे स्थलों पर भी कवि का कौशल दृष्टव्य होता है। साथ ही विचारणीय है कवि ने मानव सत्य को सभी खण्ड सत्यों के माध्यम से व्यञ्जित किया है अथवा नहीं। सत्य की यह व्यञ्जना देश काल की सीमाओं का तिरस्कार करती है। यही तुलसी साहित्य के स्थायित्व के बीज विद्यमान हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि समूचा साहित्य ही स्थायी हो। समूचा अथवा उसके अंश भी स्थायी हो सकते है। डा० दशरथ ओझा ने सत्य ही कहा है : "किसी ग्रन्थ का सम्पूर्ण भाग उत्तम एवं स्थायी काव्य नहीं होता। उसके कतिपय अंश सामान्य एवं अस्थायी साहित्य के रूप मे दिखाई देते हैं। तथापि उत्तम काव्य का स्थायी अंश ऐसा सशक्त होता है और उसकी प्रबन्धात्मकता का प्रवाह ऐसा वेगमय होता है कि उसमे घुल-मिल कर अस्थायी साहित्य भी स्थायी गरिमामय बन जाता है।

इस प्रकार स्थायी साहित्य एक श्रेष्ठ कलाकार की सतत साधना का परिणाम होता है। स्थायी साहित्य विशिष्ट सीमाओं में आबद्ध रहते हुए भी मानव मन की परतों का उद्‌घाटन करता है। वह मनुष्य की दृष्टि-परिधि का विस्तार करता है। उसमे सीमाओं मे विराट को, मूर्त्त में अमूर्त्त को बाधने का कौशल मिलता है। ऐसी रचनाएं विश्व के सभी मनुष्यों को आकृष्ट करती हैं—चाहे वे किसी वर्ग और देश के हों। "संक्षेप मे, यदि स्थायी साहित्य के तत्त्वों पर हम कहना चाहे तो यह कह सकते है कि उसके लिए उदात्त जीवन दृष्टि, उद्देश्य की महत्ता, अनुभूति की तीव्रता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता और सार्वभौमिकता की अपेक्षा ही नहीं, अनिवार्य आवश्यकता है ; उदात्त जीवन-दृष्टि के अभाव में सार्वजनीनता नहीं आ सकती और उद्देश्य की महत्ता के बिना कृति गौरवपूर्ण नही बनता। अनुभूति की तीव्रता में कलाकार की संवेदना निहित है। और अभिव्यक्ति की मार्मिकता मे शिल्प कौशल का परिचय मिलता है। सार्वभौमिकता के अन्तर्गत मानव मन का विशाल क्षेत्र, वातावरण और उन सभी भावनाओं का समावेश होता है जो मानवीय राग-विराग पर अवस्थित हैं। कोई भी महान कृति युग-युग तक प्रभावित करने वाली तभी बनती है जब उसमे मानवमात्र के लिए कोई सन्देश प्रेरणा और जीवन की दृष्टि रहती है।"[1]

साहित्य में आधुनिकता

'आधुनिकता' शब्द का परम्परीय अर्थ है : समकालीन के साथ समन्वित होना। इसका भाव हुआ समकालीन विचारों, अनुभूतियों, संवेगों और भाषा में उनकी अनुभूति के तरीकों के स्वर में स्वर मिलाना और उससे कुछ आगे भी होना। यह शब्द निरन्तर परिवर्तनशील विषय केन्द्र बिन्दु की ओर संकेत करता [illegible]

1. साहित्यालोक, वर्ष 1, अंक 2, सम्पादकं

एक प्रक्रिया की विधि से सम्बन्धित धारणा है, जो काव्य की चेतना को नियन्त्रित करती है।

कवि की अपनी चेतना होती है। वह अपनी अनुभूति और चेतना के बीच एक सम्बन्ध स्थापित करता है। इन दोनों में घनिष्ठा विलयन का रूप ग्रहण करती है। चेतना और अनुभूति के परस्पर विलयन से तीव्र और घनीभूत काव्यात्मक अनुभूति का जन्म होता है। कवि इनमें से एक को लेकर भी अपने कर्म में प्रवृत्त हो सकता है और दोनों को लेकर भी। वह अपने से भिन्न समय की अनुभूति को ग्रहण करके, उसके द्वारा समकालीन चेतना की अभिव्यक्ति दे सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि वह अपने समय की अनुभूति को, अन्य युग की चेतना के माध्यम से व्यक्त करे। तीसरा मार्ग यह है कि अनुभूति और चेतना दोनों ही समकालीन हों। इन सभी स्थितियों में कवि के मनोभाव तो आधुनिक ही होंगे। उक्त तीनों स्थितियों में से अन्तिम अवस्था पूर्णतः आधुनिक साहित्य की स्थिति है।

इन तीनों स्थितियों में नवीन चेतना और अनुभूति के सम्बन्ध स्थापित करना समाविष्ट है। कवि हमें अनुभूति के नये प्रकार देता है, नूतन पद्धति प्रदान करता है। अनुभूति के नये तरीकों का तात्पर्य है नये प्रतीकों, रूपकों, समकालीन लोकोक्तियों भाषा संरचना तथा रूपान्तरों का बोध और प्रयोग। इसमें पुराने प्रतीकों या रूपकों के नये प्रकार से प्रयोग की प्रविधि भी सम्मिलित है। पर पुराने प्रतीकों के नवीन प्रयोग के सम्बन्ध में कवि को विशेष सजग-प्रवेष्ट रहना होता है। आधुनिकता की चिनगारी पर छायी परम्परित राख कहीं उस चिनगारी की जीवन दाहकता को ही समाप्त न करदे। शैली की आधुनिकता अपने आप से बड़ी मूल्यवान वस्तु है। अनुभूति के आधुनिक प्रभावों के लिए यही उत्तरदायी होती है। शैली की आधुनिकता में आधुनिक मानव का व्यक्तित्व झलकता रहता है। नवीन भाषा और शैली का प्रयोग अपने परिवेश के प्रति उसकी नवीन प्रतिक्रिया को ही द्योतित करता है।

निष्कर्ष :

आधुनिकता का सम्बन्ध दृष्टिकोण और विचारधारा से भी है। दृष्टिकोण कवि के अन्तर्प्रकाश से सम्बद्ध है। यह प्रकाश अनुभवों पर जमी हुई युगों की काई का भेदन करके उनको यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। हमारे विचार करने के पुराने अभ्यास वस्तु के आतरिक और अनजान तथ्यों के उद्घाटन में बाधक बनते हैं। उन अभ्यासों के जड़ीभूत बन्धन से ग्राहक की दृष्टि को मुक्त करके साहित्यकार अनुभवों की नवीन आकृतियों और नवीन स्फूर्तियों से उसका सम्पर्क स्थापित कराता

है। वस्तु का यही नूतन् स्वरूप है। नवीन आकृतियां नवीन अनुभवों और अनुभूतियों को जन्म देती हैं। इस दृष्टि से एक कुशल कवि सदैव ही आधुनिक है।

आधुनिकता में अन्धता किसी दशा भी नहीं होनी चाहिए। आधुनिकता की झोंक में हम हर चीज का अन्धाधुन्ध अनुकरण न करने लगें। इस सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य को देखा जा सकता है। यह सच है कि मध्यकालीन स्वर्ण शृंखलाओं से भारतीय साहित्य को योरुपीय साहित्य और संस्कृति के आधुनिक उन्मेषों ने मुक्त किया। योरुप ने विज्ञान की नवीन शक्तियों का अविष्कार किया, पर शक्ति के प्रयोग की दिशा अन्धी ही रही। उषा की मुस्कानों का वरदान उसे नहीं मिल सका। आधुनिक योरुप का मन और मस्तिष्क स्वस्थ नहीं कहे जा सकते। औद्योगिक क्रान्ति जिन आर्थिक और वर्गीय समस्याओं को जन्म दिया था, वे अभी तक सुलझाई नहीं जा सकी हैं। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की जटिलता बढ़ती ही जाती है। इस परिस्थिति मध्यमवर्गी बुद्धिजीवी एक घुटन भरी पराजय का अनुभव कर रहा है। इसी के परिणामस्वरूप वहां का साहित्य जीवन के स्वस्थ रूप को नहीं दे पा रहा है। वहां शैली का उच्छृंखल बिखराव भावी स्वप्नों को व्यवस्थित नहीं होने देता। दृष्टिकोण में पराजय का दूषित एवं निर्मम बोध भरा है जो मनोविश्लेषण की पूरी अधूरी साहित्यिक परिणतियों के परिणाम स्वरूप अवचेतन कला और शिल्प में एक विवशता और विशृंखलता को उत्पन्न कर रहा है। इस प्रकार आधुनिक योरुपीय साहित्य में रुग्ण, कुण्ठा-ग्रस्त और पराजित मन का ही प्रतिबिम्ब मिल रहा है। जीवन के मूल्यों के अभाव में वहां का लेखक कला-शिल्प के नवीन प्रयोगों की खोज में अपनी प्रतिभा-साधन की इयत्ता समझ रहा है। जीवन के मूल्यों में न उसकी आस्था है और न विश्वास ही। पश्चिम से हमने प्रेरणा ग्रहण की; हमने उसके प्रभाव को वरदान माना, साहित्य उस प्रभाव से 'आधुनिक' भी बना। पर, हमें अपने भारतीय जीवन के नवीन उन्मेषों को भी नहीं भुला देना है। उसके आज जागृत और विकासशील जीवन से प्रेरणा और प्राण ग्रहण करते हैं। आज आधुनिकता की परिभाषा में योरुपीय साहित्य का अन्धानुकरण ही नहीं आयेगा। भारतीय जीवन की आधुनिक गतिविधि को आधुनिक साहित्य अपने में उतारेगा। इस प्रकार भारतीय साहित्य सच्चे अर्थ में आधुनिक साहित्य बन जायेगा। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में स्थिति यह होगी: "आधुनिकता हमारे लिए पश्चिम के किसी पुराने और झूठे फैशन की नकल नहीं होगी। हमारे साहित्य की आधुनिकता हमारे जीवन के स्रोत से प्रभावित होगी। आज अवसाद और उदासी के कुछ विलीन होते पत्तों को छोड़कर भारतीय जीवन में कुण्ठा, पराजयवाद और विकलता की भावना के कोई कारण हम नहीं देखते।"

इस प्रकार जब आधुनिकता और नवीनता के लिये पुकार उठती है, तब हमें सावधान होकर यह देख लेना पड़ेगा कि आधुनिकता के नाम पर कहीं मृत-तत्व रुग्ण-मनोवृत्तियां या शिल्प-गत उच्छृंखलताएं तो नहीं आ रहीं और वस्तुतः आधुनिक जीवन का चित्रण भावी संकेतों के साथ हो रहा है या नहीं ? आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि शिल्प का जंजाल इतना नहीं बढ़ जाय कि पाश्चात्य प्रभाव से तथा नागरिक सभ्यता से दूर ग्रामों में निर्वासित जनता उसकी छवियों से और उसकी प्रेरणाओं से वञ्चित रह जाय। इसके लिये वस्तु और शिल्प दोनों में ही एक क्रान्ति चाहिये। यही आधुनिकता की सार्थकता होगी। इसकी सफलता के लिये हमें पुनः युगानुमोदित चिरन्तन स्थायी सत्यों की ओर दृष्टिपात करना होगा।

९.५ आधुनिक और समकालीन

काल विकास की दृष्टि से आधुनिक मध्यकालीन मानसिकता को विदा देता है । इस अर्थ मे आधुनिक युग मध्यकाल से कट जाता है । आधुनिक युग के चरणों पर विचार करते समय दो शब्द और सामने आते हैं वर्तमान युग और समसामयिक युग । ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग का आरम्भ रिनेसा (15वीं शताब्दी ईसवी) से माना जाता है । इस युग मे तर्कशीलता का विकास होता है । सृष्टि के केन्द्र मे ईश्वर का स्थान मनुष्य ले लेता है । इतिहास धर्मनिरपेक्ष हो जाता है । वर्तमान युग मे स्वच्छन्दता की प्रतिष्ठा हुई । समसामयिक युग विविध क्षेत्रीय क्रान्तियो का युग है । इसकी पृष्ठभूमि का पहला बिन्दु प्रथम विश्वयुद्ध कहा जाता है । युग में रूस की समाजवादी क्रान्ति (1918 ई०), दूसरा विश्वयुद्ध (1939 ई.) भारत की स्वतन्त्रता (1947 ई.), तथा चीन की कृषक क्रान्ति (1948 ई.) जैसी घटनाओ ने मनुष्य केन्द्रित इतिहास को आन्दोलित कर दिया । समाजवाद और प्रजातन्त्र के मूल्य उभरे दूसरी ओर युद्धकालीन विनाश के परिप्रेक्ष में अस्तित्ववादी दर्शन का उदय हुआ । जर्मनी और फ्रांस मे अस्तित्ववादी दर्शन के चिन्तक उत्पन्न हुए । उदाहरण के लिए मरोलो पोन्टी और ज्यॉपाल सार्त्र को लिया जा सकता है । जहां मजदूर-वर्ग का दर्शन मार्क्सवाद के रूप में रेखांकित हुआ वहा पुनः मानवीकरण (Re-humanization) के लिये अस्तित्ववाद को आवश्यक माना गया ।

जहां भारत मे आधुनिक युग आरम्भ 19वीं शताब्दी के मध्य मे हुआ, वहां भारत का समसामयिक काल 1947 ई. से आरम्भ हुआ । एक ओर सामाजिक आन्दोलन ने नया रूप ग्रहण किया दूसरी ओर विश्व आर्थिक क्रान्ति से भारत जुड़ा । प्रजातान्त्रिक समाजवाद, विश्वशान्ति, पंचशील, धर्मनिरपेक्षता, निशस्त्रीकरण जैसे आदर्शमूल्य समसामयिक भारत मे उभरे । मार्क्स और गाधी की विचारधारा

अलग-अलग ही चली और मिलकर चलने की संभावना में कुछ विचारकों की दुराशा भी जागृत हुई। जहां भारतीय आधुनिकता विश्व आधुनिकता का एक अंग है वहां भारतीय आधुनिकता अपना चरित्र भी रखती है जिसका सूत्र इतिहास मे कौटिल्य, बुद्ध, समुद्र गुप्त, मध्यकालीन संत चेतना को जोडता हुआ आधुनिक युग के संतों तक चला आता है। इन संत विचारको में महर्षि दयानन्द, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, अरविन्द, गांधी और विनोबा आते है। आधुनिक युग की इस सत परम्परा ने जिस आधुनिकता को जन्म दिया उसकी पृष्ठभूमि मे औद्योगिक क्रान्ति जैसी कोई शक्ति नही है। इसमे राजनीति, अर्थजागरण, सुधार, आधुनिक मानवतावाद और विश्वभावना का वह घोल है जो पाश्चात्य आधुनिकता से भारतीय आधुनिकता को विशिष्ट बनाता है। फिर भी जहां तक साहित्य समीक्षा का सम्बन्ध है और उसकी पृष्ठभूमि में पाश्चात्य आधुनिकता का सघन तन्तु विन्यास है। अतः समसामयिक समीक्षा पर विचार करते समय इसको छोड़ा नही जा सकता।

आधुनिक बोध

आधुनिक मानसिकता के तीन लक्षण हैं:—रोमांसवाद के प्रति प्रतिक्रिया, विज्ञान के बढते हुए चरण और नवीन वादों या सिद्धान्तो का उदय। इन वादो ने वस्तु और शैली पर नवीन दृष्टि से विचार किया और साहित्य के आधुनिक सिद्धान्तो की स्थापना की। इन सूत्रों पर, अध्ययन प्रणालियो के स्पष्ट बोध के लिये, संक्षेप मे विचार कर लेना समीचीन होगा।

रोमांसवाद क्लासिकवाद के विरोध में एक प्रतिक्रिया थी। मनोदशा का आवेशहीन संयम और नियन्त्रित नियमित शैली और क्लासिकवाद की विशेषताएं थी। आवेगप्रधान मनःस्थिति और अनियन्त्रित, विस्फोटक शैली रोमांसवादी धारा के मूल तत्व कहे जा सकते हैं। इसकी मूलप्रेरणा स्वच्छन्दता है जिसकी अनेक वस्तुगत, एवं शैलीगत परिणतियां साहित्य में मिलती हैं।

जब रोमांटिक प्रवृत्तियां चरम पर थी तब विज्ञान भी अपनी अभूतपूर्व उपलब्धियो से समाज को चमत्कृत करने लगा था। विज्ञान के नवीन परिवेश में रोमांसवादी काव्य पूर्व-सभ्यता या अर्द्ध सभ्यता की वाणी जैसा लगने लगा। इस नवीन बौद्धिक शक्ति के उदय से कविता की सुरक्षा कवियों के लिए चिन्ता का विषय बन गई।[1] रोमांसवाद का महत्त्व अब ऐतिहासिक रह गया। नवीन वैज्ञानिक शक्तियों ने इसे अतीत में धकिया दिया। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यह किसी

1. शैली ने 'इन डिफेंस ऑफ पोयट्री' लिखा।

प्रकार चला,[1] पर बीसवी सदी में यह प्रवेश न कर सका।

कुछ और प्रवृत्तियां भी रोमांसवाद के समानांतर चल रही थी, जो रोमांसवाद के अवसान के क्षणो मे दहक उठी। बहुत पहले ही एलेनपो (1809-1849) ने शिव-सत्यपरक मूल्यो का तिरस्कार करके सौन्दर्यगत मूल्यो की घोषणा कर दी थी। उप-योगिता और सोद्देश्यता का विरोध इनकी वाणी में प्रखर हो उठा। पो का प्रभाव फ्रांस मे प्रतीकवाद के रूप में प्रकट हुआ।[2] इस नवीनवाद ने रोमांसवाद को धक्का दिया। रूस और जर्मनी मे भी यह प्रतिक्रिया जगी।[3] प्रतीकवादियों का सौन्दर्यबोध निश्चित ही रोमांसवादियों से नितांत भिन्न था।

उन्नीसवी सदी के अन्त मे एक और स्वर रोमांसवाद के विरोध में सुनाई पड़ता है। आर्नल्ड की समीक्षा, साहित्य को जीवन और समाज की आलोचना के रूप मे, देखना चाहती थी। वे कविता के गम्भीर विचारों को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। टॉल्स्टाय कविता और नैतिकता का सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। बर्नार्ड शा विचारो की प्रतिष्ठा और भावों की अवमानना में लगे रहे। चाहे तत्कालीन साहित्य आन्दोलनों मे इनकी स्वीकृति न हो, पर रोमांसवाद के लिये तो ये स्वर विघातक थे ही। रोमांसवाद की प्रखर प्रतिक्रिया नवीन साहित्यिक आन्दोलनों में प्रकट हुई। इनका प्रभाव एक प्रकार से विश्वव्यापी हुआ।[4] चित्रवादी आन्दोलन ने भी रोमांस-वाद को गहरी चोट दी। हुल्म ने रोम सवाद की घोर भर्त्सना की।[5] ईलियट ने निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के द्वारा कवि के व्यक्तित्व को समीक्षा केन्द्र से हटाया और

---

1. यह श्रेय भी अभिनव रोमांसवादी टेनिसन (1809-1812) तथा ब्राउनिंग (1812-1890) को है।
2. बोदलेअर, मलार्मे और रेम्बू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
3. रूस के अर्वाचीन प्रतीकवादी कवि पास्तरनेक इसके प्रतीक हैं। जर्मन कवि होल्डरलीन (1770-1843) भी रोमांटिक आवेशप्रियता के प्रति असहिष्णु हो उठे।
4. फ्रांस में बोदलेयर, मलार्मे, रेम्बू की त्रयी, इंग्लैण्ड मे मारिस और रोमेटी एव बोदले4र से प्रभावित स्विनबर्न और आस्कर वाइल्ड, जर्मनी मे नीत्से होल्डरलीन, नोवालिस तथा हाइने, रूस मे अलेक्सान्द्र ब्लाक आदि कलाकारों या विचारकों की वाणी में रोमांसवाद का विरोध और प्रतीकवादी दृष्टि का समर्थन मिलता है।
5. I object even to the best of Romantics. I object still more to the receptive attitude. I object to the sloppiness which does not consider that a poem is not a poem unless it is meaning or whinining about some thing or other.

(The New age)

सारा बल माध्यम पर केन्द्रित कर दिया।[1] इन्होंने यहाँ तक कह दिया कि काव्य की समग्र इकाई से जो भाव प्राप्त होता है, वह कवि मन में स्थित भाव से विचित्र होता है। काव्य स्वय इस दृष्टि से एक जीवित व्यवस्था है।[2] इन नवीन विचारकों ने स्वच्छंदता वाद का कटु विरोध किया।

यह 'वस्तुवाद' का भी युग था। संयमित वाणी इस युग की स्वाभाविक माँग बन गयी। डरविन के विकासवाद और आगस्त कामते के पोजीटिविज्म का प्रभाव वस्तुवाद दृष्टि के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी था। प्रकृतवादी आन्दोलन नग्न वास्तविकताओं के ऊपरी छिलको को नोंच रहा था।[3] रोमासवाद दृढ़ पर वस्तुवाद और प्रकृतवाद दोनों ही बम विस्फोट कर रहे थे।

वस्तुवाद और विकासवाद ने आधुनिक युग के वस्तुबोध को काफी दूरी तक प्रभावित किया। वस्तु के अन्दर झाँकने की प्रेरणा भी मिली और विकास की आदिम स्थितियाँ भी मुखर होने लगी।

आधुनिक युग में कला और साहित्य के क्षेत्र विभिन्न वादों की हलचलों का अनुभव करते रहे। वादो की अनेकता बुद्धिवादी विकास और साहित्य एव कला के निकष तथा प्रतिमानो पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता को ही सिद्ध करती है। ज्ञान के क्षेत्र में अनेक अनुशासनों को साहित्य-समीक्षा में व्यवहृत के फलस्वरूप उगे और कभी साहित्य और कला के क्षेत्र की स्वायत्तता की रक्षा में। कभी साहित्य की वस्तु पर नये सिरे से सोचा गया और कभी अभिव्यंजना शिल्प की महत्ता को नए आधारों पर स्वीकारा गया। वस्तु और शैली के परस्पर सम्बध और शैली के महत्त्व से सम्बन्धित विचार भी सामने आये।

जिन वादो ने बीसवी शताब्दी की साहित्यिक-मनीषा को अधिक प्रभावित किया, वे ये हैं: प्रतीकवाद, प्रभाववाद, चित्रवाद, अभिव्यजनावाद, डाडावाद, अतिवस्तुवाद और भविष्यवाद। बीसवी सदी के आरम्भ में हुई मनोविज्ञान की नयी खोजों ने भी साहित्य-सृजन, समीक्षा और शोध को काफी दूरी तक प्रभावित किया।

आधुनिकता के सम्बंध में एक और विचार को ध्यान में रखकर चलना समीचीन माना गया। आधुनिकता युग सन्दर्भ की देन नहीं। इसके सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह की कुछ पंक्तियाँ लें-"आधुनिकता युग सन्दर्भ की भावना नही है-यह कथन स्पष्ट

---

1. Selected essays, 1917-1932, (New York, 1932) p. 8.
2. "......That the feelling or emotion or vision, resulting from the poem is some thing different from the feeling or emotion or vision in the mind of the poet."
   (Elliot, The Sacred wood, (1928) Introduction p. X.)
3. फ्लाउ बेयर प्रकृतिवादी उपन्यासकार था।

संकेत करता है कि आधुनिक होने का मतलब आज का, इस दशक का, इस शताब्दी का होना नहीं। असल में आधुनिक होना समयहीन (टाइमलेस) होना है और भी सीधे कहें तो कह सकते हैं, आधुनिक होना शाश्वत होना है ?[1]" आधुनिक या शाश्वत एक समय-निरपेक्ष सार्थकता का नाम है। सार्थकता प्रचलित अर्थ की असहमति से उत्पन्न होती है। असहमति अपने आप में आधुनिकता का एक लक्षण है। यह सार्थकता अपने रूपायन के लिये 'फार्म' की रूढ़ियों पर पैर रख कर नवीन माध्यमों की भी खोज करती है।

असहमति सामाजिक और व्यक्तिगत विसंगतियों में पैदा होती है। इसका रचनात्मक पक्ष रस और अर्थ की खोज में प्रकट होता है। आधुनिकता मानव मन की एक प्रवृत्ति है जो युग सापेक्षता मे नवीन रूप ग्रहण करती है। फिर भी यह मानकर चलना चाहिये कि यह काल-सापेक्ष कम और व्यक्ति-सापेक्ष अधिक है। युग संदर्भ के व्यक्ति-सापेक्ष आधुनिकता को प्रभावित करता है, पर यह नहीं कि उसको कालप्रवाह मे बहने के लिये बाध्य कर सके। समय को काटने वाली और समय से कटकर चलने वाली गति और शक्ति युग-सन्दर्भ मे ही रूप ग्रहण करती है। अपने समय से कटकर चलने वाली आधुनिकता को युग-निरपेक्ष कहना भ्रान्ति है। निरर्थक और रसहीन तत्व जब युग के ऊपर मकड़ी के जाले की तरह फैल जाते हैं तो समय की निरपेक्षता और उनकी शुद्धता समाप्त हो जाती है। समय की इस धुँधली स्लेट पर सार्थक लेख पूर्णत. उभर नहीं पाते। इसलिये आधुनिक कहा जाने वाला कलाकार पहले स्लेट को साफ करता है। उसकी यही क्रिया समय से कटकर चलने की क्रिया है। जब समय या युग एक धुँधलके से मुक्त हो जाता है तो समय की शाश्वतता उसकी असीमता और उसका पैसिव रूप स्वयं आधुनिकता का पर्याय होने लगता है। इस पैसिव रूप को कलाकार जो गति देता है, वही आधुनिकता का रचनात्मक निखार है। आधुनिकता इसी क्रिया-प्रक्रिया के बीच उन तत्वों की खोज है जिनका मानव मन के साथ स्वाभाविक तादात्म्य होता है।

जहाँ आधुनिक बोध असहमति और शाश्वत से संबंधित है, वहाँ चलते रहने की अनिवार्यता भी उसके साथ लगी रहती है। चलते रहना एक भौतिक क्रिया भी है और एक वैचारिक क्रिया भी। गति जीवन का धर्म है तो प्रगति आधुनिकता की आत्मा है। प्रगति जहा एक ओर प्रतिक्रिया की अस्वीकृति है, वहां दूसरी ओर एक सामाजिक गतिक्रम भी है। इसमें व्यक्ति निष्ठ सत्य सामाजिक सत्य मे घुल जाता है। सजग कलाकार उन तत्वों को समझ लेता है जो गतिहीन हो गये हैं। रुके हुए तत्वों को नकारता हुआ वह प्रगति को रास्ता बनाता है।

---

1. अपनी शताब्दी के नाम, पृष्ठ 174।

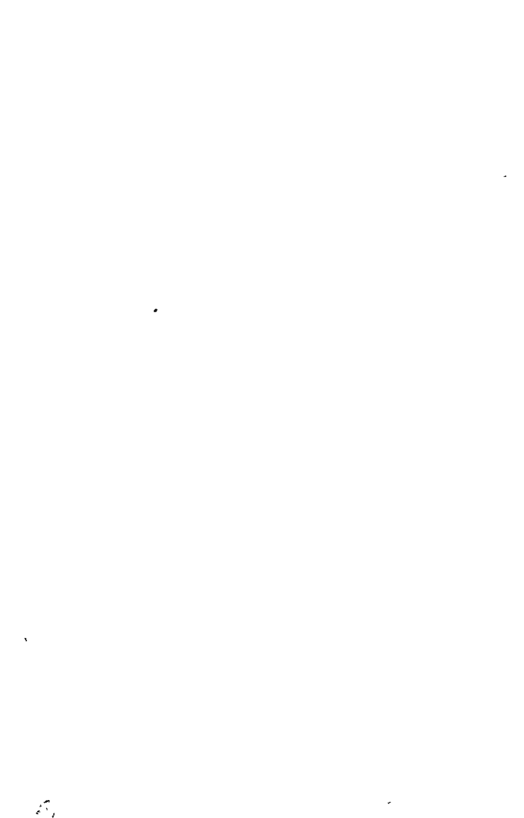
मनुष्य का स्वभाव है कि वह परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाए। इसके लिये वह चेतन या अचेतन रूप से प्रयत्न करता रहता है। एक ओर उसकी संवेदनाओं का विस्तार होता है और दूसरी ओर कोई न कोई नैतिकता उसके संवेदनों को अपने से जोड़ लेती है। नैतिकता जब तक संवेदना को अपने गुरुभार से दबा नहीं देती तब तक सामंजस्य बना रहता है। यदि नैतिकता कलाकार की संवेदना को कुचलने लगे तो सजग और सशक्त अहं नैतिकता के नवीन मान-मूल्यों की खोज करता है। जब युग बुद्धिवादी हो जाता है तो ईश्वरपरक नैतिकता मानव-सापेक्ष होने लगती है। मानदण्ड स्वयं मनुष्य बन जाता है और नैतिकता में परिवर्तन होने लगता है। संवेदना का रूप अधिक स्वच्छन्द और परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार आधुनिक मानव निरपेक्ष समय पर छाये हुए जालों को हटाता है उसी प्रकार संवेदना के ऊपर छितरे हुए नैतिकता के तंतुओं को भी साफ कर देता है। संवेदना मानवीय चेतना की नींव है। यह उसके जैविक स्तर की चीज है। जब यह संवेदना, रचना प्रक्रिया सामाजिक परिवेश और नवोदित नैतिकता से सम्बद्ध होने लगती है तो जैविक स्तर से उठकर मानवीय स्तर की हो जाती है। जब तक कलाकार को मानवीय संवेदना की उपलब्धि नहीं होती है, वह आधुनिक नहीं होता है।

नैतिकता एक जीवन मूल्य है। उसका परिवर्तन आधुनिक बोध का लक्षण है। नैतिकता का परिवर्तन धर्म भावना और ईश्वर की परिकल्पना के बदलने पर निर्भर है। इस परिवर्तन से ही मानव-मानव या मानव ईश्वर के सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। सम्बन्धों की सधारणा भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए कबीर की दृष्टि में धर्म और ईश्वर की परिकल्पना का वह रूप नहीं रह गया जो पूर्वागत रूढ़ियों के आधार पर बनता है। इसलिये उनकी नैतिकता के दायरे और उनकी परिभाषा भी बदल गये। पूर्वागत रूढ़ियों के साथ कबीर का उदय अहं असहमत है। संक्षेप से ये आधुनिकता के कुछ लक्षण हैं जो किसी भी काल-खण्ड में प्रकट होकर आधुनिक बोध के प्रमाण बनते हैं।

आधुनिकता को किसी भी युग का विरोधी नहीं कहा जा सकता। यदि और साफ-साफ कहें तो आधुनिकता अतीत का भी पुनर्निमाण करती है। इसका तात्पर्य यह है कि अतीत के उन तत्वों को यह उजागर करती है जो शाश्वत है। उन तत्वों के प्रति एक नया विश्वास भी उत्पन्न किया जाता है। यह परम्परा की यथाविधि स्वीकृति भी नहीं है, बल्कि चुनाव की एक बौद्धिक प्रक्रिया है। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक शब्दों के द्वारा एक खण्डित कालबोध को ही व्यक्त किया जाता है। वास्तव में प्राचीन और मध्य का जो कुछ गत्यात्मक है, वह भी आधुनिक ही है।

जहां तक ग्रभिव्यक्ति के रूपाकार का प्रश्न है, ग्राधुनिकता, क्लासिकवाद ग्रौर रोमांसवाद दोनों के ही प्रति ग्रसहमति प्रकट करती है। क्लासिकवाद वर्गीय रूपाकार की प्रविधियों की बारीकियों को लेकर चलता है जिसमें ग्रविशिष्ट संवेदनायें ग्राने से इनकार कर देती हैं। नियंत्रित नियमित शैली एक रस ग्रौर ग्रर्थहीन होने लगती है। ग्राधुनिकता की विस्फोटात्मक ग्रसहमति का इस शैली से कोई मेल नहीं है। जहां तक रोमांसवाद की फिसलती वस्तुविधि ग्रौर उसकी शैली का प्रश्न है, वह भी ग्राधुनिकता के साथ ग्रनिवार्य रूप से संलग्न बौद्धिकता का साथ नहीं दे पाती। यद्यपि ग्रपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण ग्रौर क्लासिकवाद से प्रकृतितः भिन्न होने के कारण रोमांसवाद ग्राधुनिकता का प्रथम चरण मान लिया जाता है। फिर भी ग्राधुनिकता में इससे ग्रधिक ग्रसहमति-प्रखरता ग्रौर गतिशीलता रहती है। प्राचीन ग्रौर मध्ययुग की ग्रति नियन्त्रित मनःस्थिति को चुनौती देकर रोमांसवाद एक स्वच्छन्द पटल तैयार करता है जिसमें ग्राधुनिकता के लक्षण स्पष्ट ग्रौर गतिशील होते हैं।

२. विकास के चरण



२.१ सुधार और नवजागरण

आरम्भ और अग्रगामी परिणतियाँ :

विश्व के इतिहास मे 19वी शताब्दी आधुनिकता की दृष्टि से बहुत महत्व-पूर्ण है। यही वह समय है जबकि पहले पहल मध्यकालीन धर्म रूढ़ियो को विज्ञान की चुनौतियों का सामना करना पड़ा। विज्ञान और धर्म का द्वन्द्व सारी दुनिया की मानसिकता को झकझोरने लगा था। नव जागरण का एक अर्थ यह भी किया जा सकता है कि विज्ञान ने धर्म की नीद से गाफिल दुनिया को जगा दिया। धर्म के सारे संगठन राजनीति को नियन्त्रित करने मे अपने को असमर्थ पाने लगे। डार्विन और न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों की खोजों ने परम्परागत धर्म की मान्यताओं को एक प्रकार से मात ही कर दिया। शायद सुधारवाद भी बुद्धि, तर्क और विज्ञान से प्रेरित धर्म की पुनर्व्याख्या या धर्म को तर्क संगत बनाने का प्रयत्न ही था। रूसो और वाल्टेयर को इस सिलसिले में याद किया जा सकता है।

हिन्दुस्तान में इन शक्तियों और प्रेरणाओं को आने में कुछ समय तो रहा, किंतु ये आकर ही रहीं। अलबत्ता इन्होंने हूबहू वही रूप नहीं लिया जो इन्होंने पश्चिम में लिया था। इसका कारण यह है कि इन शक्तियों की सामाजिक परिणति के लिए अमेरिकन स्वतन्त्रता युद्ध, फ्रांस की राज्य क्रांति और औद्योगिक क्रान्ति जैसी ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हुईं। यहा ऐतिहासिक घटना के नाम पर प्रथम भार-तीय स्वतन्त्रता की लड़ाई हुई जिसने भारत को पराजय के क्षणों मे धकिया दिया। जो दीपक हिन्दू और मुसलमानों ने मिल कर जलाया था, वह बुझ गया।

दीपक तो बुझा और दिगंत अंधेरे से भी भर उठे पर इस दीपक की ज्योति और इसकी दाहकता खतम नहीं हुई। देश की नसों में यह दाहकता भर गयी और यह विश्वास जग गया कि भारत में इस समय जो ज्योति जगी थी वह किसी तरह मिटाई नहीं जा सकती। पराजय की कड़वाहट के बीच भारत के ऋषियों, मुनियों

में जो सुधार आया उसकी भी मूल प्रेरणा भूमि सुधार और पुनर्जागरण को ही कही जाएगी। इसी ने फ्रांस की राज्य क्रांति का रूप धारण किया था। भारत में भी सन् 1857 के पश्चात् पुनर्जागरण और सुधारवाद से जन्य पीडाएं विभिन्न रूप से परिणतियां पाने लगी थीं। 19 वी शताब्दी का अंत होते होते सुधारवाद, पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता की त्रयी सामाजिक जीवन और साहित्यिक अभिव्यक्तियों को बल के साथ प्रेरित करने लगी थी। इसी भाव भूमि का चरमोत्कर्ष हमको द्विवेदी युग में दिखलाई पड़ता है। इस युग तक आते आते राजनीति राष्ट्रीयता से पूर्णतः जुड़ गयी थी। कई सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन इस युग में आये थे। हिन्दी साहित्य की आधुनिकता के सोपानों को समझने के लिए इस युग का संक्षिप्त जाइजा ले लेना होगा।

आधुनिक युग के प्रथम चरण में साहित्यिक विधाओं से सम्बन्धित जितनी प्रयोगशीलता रही उतनी समीक्षा के क्षेत्र में नहीं मिलती। कुछ बीजों की स्थिति तो मिलती है किन्तु द्विवेदी युग में समीक्षा और मूल्यांकन सम्बन्धी बोध प्रखर और वैविध्यपूर्ण हो गया। आधुनिक युग की प्रायः सभी विशेषताओं की परछाइयां इस युग में रूपायित होने लगीं। परवर्ती दशकों में कुछ ही नवीन पद्धतियां मिलती हैं। इसलिए यह आवश्यक लगता है कि आधुनिक समीक्षा पर विचार करने के पूर्व उस भूमिका को उजागर कर दिया जाए जो द्विवेदी युग में आधुनिक समीक्षा सृजन के लिए प्रस्तुत हो गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदी युग पर पुनर्विचार की प्रक्रिया कुछ रुक सी गई है किन्तु यह युग इतना सार्थक और गर्भित प्रतीत होता है कि उस पर पुनर्विचार करके ही आधुनिक मानस को समझा जा सकता है।

इस काल को एक दृष्टिकोण दो भागों में विभक्त करता है : अराजकता काल (1900-1908) तथा साहित्यिक व्यवस्था का काल (1908-1916) इसके संबध में यह कहा गया : "द्विवेदी जी ने ब्रजभाषा के स्थान पर खडीबोली का प्रचलन किया। उन्होंने लेखकों को संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद की प्रेरणा दी। अचानक परिवर्तन से लोगों को आघात लगा और उस समय जिसके मन में जो बात आई वह वही लिखता था। इसलिए सन् 1908 ई. तक के सामाजिक परिवेश ने गद्य-लेखकों को अभ्यास और आदर्श कृतिकारों के अनुकरण की प्रेरणा दी। सन् 1908 से सन् 1916 ई. तक का काल साहित्यिक व्यवस्था का काल है। साहित्य को आदर्श प्रतिमानों के लिए कुछ लोग संस्कृत का प्राचीन आदर्श सामने रखना चाहते थे और अनेक लोग पाश्चात्य रूप के पोषक थे।"[3] द्विवेदी जी ने गद्य साहित्य में दोनों प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने प्रतिभाशाली साहित्यकारों को प्रोत्साहित करके पश्चिमी भाव और सभ्यता के प्रगतिशील और उपादेय तत्त्वों को दृष्टिगत कर

साहित्य लेखन की प्रेरणा दी।"[1] 1916 के पश्चात् जो युग खण्ड अवतरित होता है, उसमें नवीन बुद्धिवाद की प्रेरणा और अधिक तीव्र और स्पष्ट होने लगी।

इस युग के प्रवर्तक द्विवेदीजी का व्यक्तित्व साहित्य के आकाश को आच्छादित कर रहा था। "बीसवीं सदी के पहले दो दशाब्दों की अवधि में साहित्य सम्बन्धी जो भी आन्दोलन हुए सब पर द्विवेदीजी की सजग साधना की छाप है। मौलिक रचना की दृष्टि से उनकी सेवा-साधना का महत्त्व उतना नहीं है जितना साहित्य की भूली बिसरी सामग्री एकत्र करने तथा बहुतों को साहित्य-सेवा के लिए अनुप्रेरित करने में।""अंग्रेजी के आदर्श पर गद्य के विकास की व्यवस्था की। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वे एक मात्र अंग्रेजी आदर्श के ही पृष्ठ पोषक हों। गति की प्रांजलता के लिए, शब्द समृद्धि और शुद्धि के लिए, अभिव्यंजना की शक्ति और सादगी के लिए उन्होंने अंग्रेजी गद्य का अनुकरण किया। बेकन और मिल की रचनाओं का अनुवाद करके गद्य के आदर्श निदर्शन प्रस्तुत किए।"[2]

द्विवेदी युग साहित्यिक सुधारवादी आदर्शवाद का युग था। उनके आदर्श का प्रतिफलन प्रकारान्तर से प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में देखा जा सकता है। उनके आदर्शवाद के दो स्तम्भ हैं : सचेतन सुधार भावना और अपने गौरव को बुद्धिवादी तर्कों से सिद्ध करने की प्रवृत्ति। यह आदर्शवादी सामाजिक चेतना ही कही जा सकती है। 'द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श यदि संक्षेप में कहा जाये तो समाज में एक सात्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समाज की प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास-वैभव का निषेध-ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं। उन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी पूर्णता का अवलम्ब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परन्तु अपनी सत्यवृत्ति के कारण चिर स्मरणीय अवश्य होगा— वह आदर्श धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस शीतल समीर का संचार करता है और मस्तिष्क की सत्यान्वेषिणी शक्ति का समाधान करके आत्मतृप्ति की व्यवस्था करता है। परन्तु जो आदर्श समय और समाज के अंधकार में आलोक की दीप शिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करता है, वह भी अपना अलग महत्व रखता है। द्विवेदी जी का ऐसा ही आदर्श था।""द्विवेदी युग को साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।"[3] कहना न होगा कि कर्मयोग की दीप शिखा से 'चिन्तामणि' के सभी निबन्ध प्रोद्भासित हैं।

1. डा. रत्नाकर पाण्डे, हिन्दी साहित्य-सामाजिक चेतना पृ. 95।
2. डा. लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, त्रयोदश भाग पृष्ठ 20-21।
1. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, सम्पादक—डॉ. श्याम सुन्दर दास, रायकृष्ण दास प्रस्तावना पृ. 7।

सुधार की आकांक्षा भी राष्ट्रीयता का अंग बन गई। आर्य समाज जैसी सुधारवादी संस्थाओं का कार्यक्रम स्पष्ट होने लगा। सुधारवादी या आदर्शवादी प्रवृत्तियों का प्रभाव साहित्य पर भी लक्षित होने लगा। हिन्दुओं की जाति व्यवस्था शिथिल होने लगी थी। ब्रिटिश सिविल कानून के फलस्वरूप सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली टूटने लगी थी। शिक्षा तथा व्यवसाय की नवीन सुविधाएं नगरों में एकत्र होने लगी थी। ग्राम नगरों की ओर तेजी से आकर्षित होने लगे। "शिक्षा के प्रसार ने अनुचित सामाजिक प्रथा-यथा सती प्रथा, बाल विवाह, नरबलि आदि का विरोध किया और ब्रह्म समाज, सुधारवादी दृष्टि तथा रामकृष्ण मिशन की आध्यात्मिक चेतना ने समाज को पुनर्जागरण की संगठित शक्ति प्रदान की।"[1] पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से जो वैज्ञानिक दृष्टि देश मे पनपी उसने भी सुधार भावना को सशक्त बनाया और सुधारवादी कार्यक्रम को आधारभूमि प्रदान की। रूढियों, तर्क-शून्य जड़ता और पुरातन पंथ का त्याग होने लगा। बुद्धिवादी दृष्टिकोण सदा रूढियों के मृतभार को तर्क की दृष्टि से देखता ही है। छुआछूत, खानपान आदि आडम्बरों के नीचे सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों से अनुप्राणित संस्कृति की शुचिता दब गई थी। नवोदित सुधार भावना ने आडम्बर के कुहासे को चीर कर मूल्यवती संस्कृति को उजागर किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा स्थापित आर्य समाज सक्रिय था। इस संस्था ने विधवा विवाह का समर्थन किया। बाल विवाह और वर्णगत भेद के घृणित रूप का विरोध किया गया। सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों के उच्छेदन का कार्यक्रम इस संस्था ने बनाया।

राष्ट्रीय भावना भावुकता को छोड़कर नवीन बौद्धिकता के सहारे अधिक दृढ और सुनिश्चित होने लगी। 1885 मे राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म, 1905 मे तिलक के द्वारा बनारस अधिवेशन मे यह घोषणा कि स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है जैसी कुछ महत्वपूर्ण घटनाएं इस प्रवाह मे दिखलाई पड़ती हैं। बगाल के विपिनचन्द्र पाल तथा पंजाब के लाला लाजपत राय का क्रान्ति घोष भी सुनाई पड़ता है। इन्ही प्रयत्नों के बीच राष्ट्रीयता के अग के रूप मे हिन्दी प्रेम भी दिखलाई पड़ता है। स्वदेशी आन्दोलन के साथ हिन्दी और हिन्दुस्तानी का प्रश्न भी गुथ गया। वंग-भंग की प्रतिक्रिया में उठा स्वदेशी आन्दोलन सारे देश में फैल गया। 1905 मे ही रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय हुई। प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) भी घटित हुआ। जापान की विजय ने राष्ट्रीयता के विश्वास को दृढभूमि प्रदान

1. डॉ. रत्नाकर पाण्डे, हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना, पृष्ठ 2

चाय, बीमा, और बैंक आदि में लगी पूँजी 45 करोड़ पौंड तक पहुंच चुकी थी।

ब्रिटेन के जो आर्थिक मनसूबे थे उनको स्वदेशी आन्दोलन से बड़ा धक्का लगा। 1917 में ब्रिटिश आयात 16 प्रतिशत कम हुआ। देश के बुनकर उद्योग और देशी उद्योग धन्धों को सफलता भी मिलने लगी। कच्चा माल विदेश जाता था और ब्रिटेन के उत्पादन की सबसे बड़ी मण्डी भारत था। 1924 में भारत से अन्न और कच्चा माल दो करोड़ बीस लाख पौंड के मूल्य का निर्यात हुआ। वैसे, 1900 तक ही चौबीस दुर्भिक्ष पड चुके थे, जिससे देश आर्थिक रूप से जर्जर हो चुका था। फिर भी विदेशी शासन ऐश्वर्य और प्रदर्शन पर पर्याप्त खर्च कर रहा था। 1903 में कर्जन के विराट् दरबार में 1 लाख 80 हजार पौंड खर्च किया गया। इस प्रकार द्विवेदी युग में आर्थिक दुरवस्था से देश की जनता गुजर रही थी।

स्वदेशी आन्दोलन की भूमिका को क्षत-विक्षत करने के लिए शासकों ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को बल दिया। 1906 तक मुसलमानों को इतना प्रोत्साहन मिलने लगा कि मुस्लिम लीग की स्थापना हो गई। यह विभेद की दृष्टि बड़ी घातक सिद्ध हुई। 1909 के शासन सुधार में पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था हुई जिसका उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ाकर आन्दोलन की भावना को शिथिल करना था। 1916 तक राष्ट्रीय नेता अपने विरोध के द्वारा इस विभाजन की नीति को असफल करते रहे। अन्त में शासकीय कुचक्र सफल हुआ।

सामाजिक पुनरुत्थानवादी आन्दोलन को साहित्य ने भी प्रेरणा और शक्ति प्रदान की। साहित्यकारों और पत्रकारों ने शिक्षित वर्गों में राजनीतिक जागरुकता पैदा की। अपने देश के अतीत को और अतीतवर्ती मानवतावादी आदर्शों को उजागर करके साहित्यकार ने एक वैचारिक क्रान्ति और सांस्कृतिक आध्यात्मिकता को जन्म दिया। इस प्रकार द्विवेदी युग साहित्यिक विकास और विचार परिवर्तन का काल है।

एक मत इस प्रकार है : "उस समय शिक्षा पद्धति के दो प्रकार थे। स्कूली शिक्षा में यथार्थ और वैज्ञानिकता का प्रवेश हो चुका था तथा घर की शिक्षा में वीरोचित कल्पना प्रधान प्रवृत्तियों का आधिक्य रहता था। जीवन की भावना प्रधान स्कूली शिक्षा ने देश के सुशिक्षितों को भौतिकवाद की ओर प्रेरित किया और पाश्चात्य चकाचौंध की परम्परा में आकंठ निमग्न नए शिक्षित लोग कोई अनुकरणीय तत्व और आदर्श भारतीय परम्परा से ग्रहण न कर सके। दूसरी ओर देश में एक ऐसा दल भी था जो संस्कृत साहित्य के अनुकरण पर सब कुछ चाहता था।[1] जो स्वस्थ

1. डा. रत्नाकर पांडे, हिन्दी साहित्य : सामाजिक चेतना, पृ. 95

की। प्रथम विश्व युद्ध ने भारतीय सेना की अभूतपूर्व वीरता का सिक्का पाश्चात्य जगत पर बिठा दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध ने केवल योरोप को ही नहीं, समस्त विश्व को झकझोर दिया था। सारे संसार ने दानवी सहार को आँखों से देखा। जघन्य हिंसा व्यापार से भारत भी उद्विग्न हो उठा। मनुष्य का मानसिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन कुण्ठित सा हो गया। भारत में चाहे इस युद्ध की विभीषिका का साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित न हो, किन्तु यहां मानवतावादी आदर्श दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म निरपेक्ष मानवतावाद और राष्ट्रीयता का आदर्श स्थापित किया गया। मानववाद के मार्ग में जाति भेद का जो रोड़ा था, उसके प्रति बौद्धिक चेतना जागरुक हुई। भारत मे ही नही, ससार मे ही अनुदार और संकुचित धार्मिक दृष्टि मानवतावादी दृष्टि से प्रताडित हुई।

राष्ट्रीय स्वार्थों से भी मानवतावाद की प्रतियोगिता थी। इसी सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावाद अंकुरित होने लगा। सघर्ष की अपेक्षा समन्वय की शक्ति को पहचाना जाने लगा।

तिलक, लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल के उग्र विचार स्वदेशी आन्दोलन के मूल मे थे। 1904 मे कर्जन ने इण्डियन सिविल सर्विस में भारतीयों को स्थान देने का विरोध किया। इससे भारत का शिक्षित मानस क्षुब्ध हुआ, उत्तेजित भी हुआ।[1] 1905 बगभग की घोषणा ने बगाल की उग्र राष्ट्रीयता को दृढ़तर बनाया। इससे हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य भी बढ़ा। 1906 मे क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए विस्फोटक पदार्थों का प्रयोग किया गया। पृथक मताधिकार की व्यवस्था की गई। जिससे कि आन्दोलन दुर्बल पड़े।[2] समाचार पत्र एक्ट के द्वारा विचार स्वातंत्र्य पर अंकुश लगाया गया। बगभग आंदोलन ने स्वतन्त्रता की ओर तेजी से से प्रगति की।

अंग्रेजों तथा उनके समर्थक वर्गों के शोषण के कारण किसानों की दशा शोचनीय हो गई। जमींदार तथा किसानों के बीच उस समय 50 से अधिक स्वार्थी मध्यस्थ वर्ग थे।[3] 1911 में भारत पर, ग्राम ऋण तीन अरब रुपये के लगभग था।[4] 1924 में भारतीय औसत आय तीन में से दो व्यक्तियो के भोजन भर की थी।[5] ब्रिटिश पूँजीवाद भारत मे जड़ें जमा चुका था। 1914 में ब्रिटिश की रेल,

1. गुरमुख निहालसिंह, भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास (अनु. सुरेश सिन्हा) पृ. 154-55
2. मोरारजी देसाई, भारतीय एकता स्वप्न जो सत्य बना, पृ. 18
3. साइमन रिपोर्ट, भाग 1 पृ. 340
4. इण्डियन एकोनोमिक्स, जथार एण्ड वेरी, (1933) भाग 1 पृ. 269
5. दि वेल्थ एण्ड टैक्सेबिल कैपेसिटी ऑफ इण्डिया (1924) पृ. 253

चाय, बीमा, और बैंक आदि में लगी पूँजी 45 करोड़ पौंड तक पहुंच चुकी थी।

ब्रिटेन के जो आर्थिक मनसूबे थे उनको स्वदेशी आन्दोलन से बड़ा धक्का लगा। 1917 में ब्रिटिश आयात 16 प्रतिशत कम हुआ। देश के बुनकर उद्योग और देशी उद्योग धन्धों को सफलता भी मिलने लगी। कच्चा माल विदेश जाता था और ब्रिटेन के उत्पादन की सबसे बड़ी मण्डी भारत था। 1924 में भारत से अन्न और कच्चा माल दो करोड़ बीस लाख पौंड के मूल्य का निर्यात हुआ। वैसे, 1900 तक ही चौबीस दुर्भिक्ष पड़ चुके थे, जिससे देश आर्थिक रूप से जर्जर हो चुका था। फिर भी विदेशी शासन ऐश्वर्य और प्रदर्शन पर पर्याप्त खर्च कर रहा था। 1903 में कर्जन के विराट् दरबार में 1 लाख 80 हजार पौंड खर्च किया गया। इस प्रकार द्विवेदी युग में आर्थिक दुरवस्था से देश की जनता गुजर रही थी।

स्वदेशी आन्दोलन की भूमिका को क्षत-विक्षत करने के लिए शासकों ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को बल दिया। 1906 तक मुसलमानों को इतना प्रोत्साहन मिलने लगा कि मुस्लिम लीग की स्थापना हो गई। यह विभेद की दृष्टि बड़ी घातक सिद्ध हुई। 1909 के शासन सुधार में पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था हुई जिसका उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ाकर आन्दोलन की भावना को शिथिल करना था। 1916 तक राष्ट्रीय नेता अपने विरोध के द्वारा इस विभाजन की नीति को असफल करते रहे। अन्त में शासकीय कुचक्र सफल हुआ।

सामाजिक पुनरुत्थानवादी आन्दोलन को साहित्य ने भी प्रेरणा और शक्ति प्रदान की। साहित्यकारों और पत्रकारों ने शिक्षित वर्गों में राजनीतिक जागरुकता पैदा की। अपने देश के अतीत को और अतीतवर्ती मानवतावादी आदर्शों को उजागर करके साहित्यकार ने एक वैचारिक क्रान्ति और सांस्कृतिक आध्यात्मिकता को जन्म दिया। इस प्रकार द्विवेदी युग साहित्यिक विकास और विचार परिवर्तन का काल है।

एक मत इस प्रकार है : "उस समय शिक्षा पद्धति के दो प्रकार थे। स्कूली शिक्षा में यथार्थ और वैज्ञानिकता का प्रवेश हो चुका था तथा घर की शिक्षा में वीरोचित कल्पना प्रधान प्रवृत्तियों का आधिक्य रहता था। जीवन को भावना प्रधान स्कूली शिक्षा ने देश के सुशिक्षितों को भौतिकवाद की ओर प्रेरित किया और पाश्चात्य चकाचौंध की परम्परा में आकंठ निमग्न नए शिक्षित लोग कोई अनुकरणीय तत्व और आदर्श भारतीय परम्परा से ग्रहण न कर सके। दूसरी ओर देश में एक ऐसा दल भी था जो संस्कृत साहित्य के अनुकरण पर सब कुछ चाहता था।[1] जो स्वस्थ

1. डा. रत्नाकर पांडे, हिन्दी साहित्य : सामाजिक चेतना, पृ. 95

विचारक या लेखक थे, वे दोनों ही प्रकार के शिक्षा के उत्तराधिकार से स्वस्थ ग्रौर श्रेष्ठ के चुनाव के पक्ष में थे। पाश्चात्य जगत से प्राप्त तत्वों को पचाकर यह वर्ग अपने साहित्य के ज्ञान कोश को भर रहा था।

सन् 1853 में चार्ल्स ड[1] वोलियन ने पालियामेंट के सामने कहा था "हम लोग (अंग्रेज अधिकारी) जो कुछ कर रहे हैं उसका उद्देश्य इस प्राचीन हिन्दू संस्था के उन्नायकों के साथ अनुचित उत्तेजना पूर्ण संघर्ष में प्रवेश करना नहीं है वरन् इस देश के निवासियों को एक अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान मन्दिर का द्वार उद्‌घाटित करने वाली बिल्कुल नयी कुन्जी देना है।" इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदी युगीन साहित्यिक-विचार ग्रौर भारतीय विद्या (Indology) के विद्यार्थी को अपने ही अतीत की नवीन व्याख्या देने की दृष्टि प्राप्त हो रही थी। अपनी थाती को नवीन बुद्धिवादी तर्कों से चमकाने की प्रेरणा इनको मिल रही थी। चाहे अंग्रेजों का उद्देश्य कुछ भी रहा हो, पर नवीन विश्लेषणात्मक चिन्तन पद्धति अवश्य हमें मिली।

इस युग में अंग्रेजी शिक्षा नीति सफल हुई। इसका सम्बल लेकर नवीन प्रतिभाग्रों ने या तो रूढ़ि के बंधनों से मुक्ति प्राप्त की अथवा नवीन तर्क प्रणाली से रूढ़ियों ग्रौर परम्पराग्रों को जीवत बनाया। नवीन शिक्षा प्रणाली ने हमारी सुधार भावना को तीव्र बनाया ग्रौर सामाजिक असमानता को एक धक्का भी दिया।

इस नवीन शिक्षा ने मनुष्य की महिमा में अपार विश्वास उत्पन्न किया। नवीन मानववादी दृष्टि का उदय हुआ। पुरानी धर्मभावना या परलोक भावना का कैंचुल निरर्थक हो गया। यूरोपीय देशों की नवीन राष्ट्रीयता ग्रौर प्रजातन्त्र के ग्रादर्श हमारे चिन्तन में स्थान पाने लगे।

रवीन्द्र ने लिखा है : "यदि हम विश्व को सत्तावान वस्तुग्रों का संयोग मात्र समझते हैं, एक नियम, नियन्त्रित व्यवस्थाभर मानते है तो हमारी चेतना अपूर्ण है। किन्तु यदि हमारी चेतना यह जान लेती है कि समस्त वस्तुएं ग्रात्मिक रूप से जुड़ी हुई हैं ग्रौर इसीलिए ग्रानन्ददायी हैं तो हमारी चेतना परिपूर्ण है। इस विश्व का चरम प्रयोजन यह है कि हम अपनी सहानुभूति को विस्तृत करके इस विश्व में अपना साक्षात्कार करें—अपने को विश्व से अलग करके उस पर हावी होने के बजाय उसे समझें ग्रौर उसके साथ अपने को पूर्ण रूप से एकाकार करलें"[2] सामाजिक चेतना अपने से भिन्न अन्य पदार्थों का ज्ञान या संवेदन कराती है। इस प्रकार सामाजिक चेतना मनुष्यों की सत्तात्मकएकता का ही धर्म है। इसी सामाजिक चेतना के ग्राधार पर मनुष्य पशुत्व से ऊपर उठता है। मानवीय सभ्यता का विकास इसी

---

1. वही, पृ. 95 पर उद्धृत।
2. नवनीत मई सन् 1966 ई पृ. 46

चेतना के आधार पर होता है। इसी में मनुष्यत्व, सहअस्तित्व, सहबन्धुत्व, सहजीवन के बीज अन्तर्निहित हैं अनेक भौतिक प्रवृत्तियों के विकास, अवसान और आत्मसंघर्ष के द्वन्द्व से सामाजिक चेतना अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान रहती है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में भी सामाजिक चेतना को समझा जा सकता है। प्रत्येक समाज मे कुछ परम्परावद्ध धारणाएं चली आती हैं। किसी नूतन विचार-धारा के प्रवेश से अथवा अन्य कारणों पर जब इन धारणाओं में प्रगति मूलक परिवर्तन होता है तो समाज में एक नवीन चेतना की जागृति का क्षण उपस्थित होता है। यह चेतना सामाजिक वातावरण के संसर्ग से विकसित होती है। नवोदित चेतना और वातावरण के संसर्ग से ही मनुष्य का चरित्र नियमित होता है। चरित्र से ही वास्तविकता प्रकट होती है। इसी से समाज मे सक्रियता आती है।

समाज में परम्परागत रूढ़ियों के कारण जो जड़ता आ जाती है और प्रतिकूल परिस्थितियों मे देश या जाति की अधोगति हो जाती है, उनको जो विचारधारा ललकारे और समाज को पुनरुज्जीवित करे, उसी को सामाजिक चेतना कहा जा सकता है।

इस युग मे वर्ग संघर्ष एक ऐतिहासिक तत्व के रूप में सामने आया। समाज में वर्ग संघर्ष अनेक रूप धारण करता है। मानसिक स्तर पर पहले वलिष्ट होकर यह विध्वंसात्मक रूप धारण कर लेता है। क्रम इस प्रकार रहता है—वर्ग वैषम्य श्रेणी संघर्ष वर्ग युद्ध। वर्ग संघर्ष की स्थिति से पूर्व एक वर्गहीन समाज की स्थिति मानवीय विकास के आरम्भ मे कल्पित की जाती है। उस समय उत्पादन के साधनों पर समाज का नियन्त्रण था। व्यक्ति का आर्थिक शोषण सम्भव नहीं था। आर्थिक वैषम्य भी उस समय नहीं था। सामन्तवाद, पूंजीवाद और यान्त्रिक सभ्यता के विकास के फलस्वरूप आर्थिक वैषम्य बढ़ता गया और वर्ग संघर्ष एक ऐतिहासिक तत्व बन गया।

मार्क्सवादी दृष्टि से समस्त साहित्य इस वर्गवादी संघर्ष की ही अभिव्यक्ति है। पहले साहित्य का गठबन्धन उच्च और सत्तारूढ़ वर्गों से था। परन्तु धीरे-धीरे साहित्य भी सर्वहारा वर्ग के साथ आया और उसके आर्थिक क्रान्ति मूलक यथार्थ को उसने अभिव्यक्ति देना आरम्भ किया।

सामंतशाही वैज्ञानिक विकास के साथ शिथिल होती है। सामंतीय अर्थ व्यवस्था के भंग होने पर उत्पादन के साधन अन्य कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होने लगते हैं। यही पूंजीवाद का उदय है। पंद्रहवी शती में जब समुद्री व्यापार बढ़ा तो बाजार की सीमाएं बढ़ीं : उपभोक्ताओं की संख्या तथा मांगों मे वृद्धि हुई। सामंतवादी अर्थ व्यवस्था आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे असमर्थ हो गई। इसी भूमिका में पूंजीवाद का उदय हुआ। श्रमिक वर्ग भी उत्पन्न हुआ। सामंत और किसान की

स्थिर अर्थ व्यवस्था को गत्यात्मक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने दुर्बल बना दिया। कृषक भी धीरे-धीरे श्रमिक बनते लगे, गाव, शहर की ओर खिचने लगे। शहर का आकार दानवीय बनने लगा। श्रमिकों का शोषण और वर्ग वैषम्य बढ़ने लगा।

धीरे-धीरे मानव के सामाजिक सम्बन्ध और समाज की नैतिक व्यवस्था पूंजीवादी मूल्यो से प्रभावित होते गये। पूंजी की सत्ता, शक्ति और महत्ता बढ़ गई। भौतिकवादी दृष्टि विकास करने लगी। मानवीय मूल्य सन्त्रस्त होने लगे। पूंजीवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का समर्थन करता है। व्यक्त रूप से पूंजीवाद शासन व्यवस्था मे दखल नहीं देता।

पूंजीवाद के विरोध मे एक ओर साम्राज्यवाद तथा दूसरी ओर साम्यवाद है। दोनो ही पूंजी के समाजीकरण में विश्वास करते हैं। धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र बढ़ता जाता है। साम्यवाद श्रमिक और कृषक वर्ग को प्रेरित करता है कि वे पूंजीवादी सत्ता छीनें। पूंजीवाद ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को बल दिया ही था।

पूंजीवादी युग मे उत्पन्न हुआ व्यक्तिवाद सामंती रूढ़ियों के प्रति असहिष्णु हो उठता है। साहित्य मे भी इस उन्मेष को देखा जा सकता है। भारत मे रीतिकालीन साहित्य के प्रति जो विद्रोह 19 वी शती के अन्त मे बीसवीं शती मे दिखलाई पड़ता है, वही साहित्य में नवीन चेतना का प्रारम्भ है। इसी के साथ भारत मे पूंजीवादी विचार धारा भी आती है। इस नव चेतना के साथ व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता, बौद्धिकता और राष्ट्रीय-सामाजिक मान्यताएं स्थिर होती हैं।

गांधीजी ने एक नवीन जीवन-दर्शन के तत्त्वों का अन्वेषण और प्रतिष्ठापन किया। इसकी नींव आत्मशक्ति पर रखी गई है, इसीलिए इस विचारधारा के साथ जीवंत आध्यात्मिक संघर्ष मिलते हैं। इस युग का विचार स्वातन्त्र्य भी इसमे है। गांधी जी समाज की परम्परागत जीवन व्यवस्था को किसी लाल क्रान्ति से धराशायी नही करना चाहते थे। उनका लक्ष्य था—समाज की परम्परागत व्यवस्थाओं को नवीन पद्धति मे ढालना। पूंजीपति को वे 'ट्रस्टी', के रूप में देखना चाहते थे। सामाजिक व्यवस्था में वे विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। निम्न वर्गों के उद्धार का उन्होंने संकल्प लिया था।

पशुबल के स्थान पर उनका विश्वास आत्मबल पर था। उसी के द्वारा वे विरोधी तत्त्वो पर विजय प्राप्त करना चाहते थे। यही उनका अहिंसा सिद्धांत है। अहिंसा कोई निष्क्रिय प्रभावात्मक वृत्ति न होकर एक क्रियात्मक भावना प्रधान प्रवृत्ति है। अहिंसा का व्यापार स्वार्थ और मोह से जड़ीभूत नही है। अहिंसा के साथ एक प्रेमभाव भी लगा रहता है।

सत्य और अहिंसा से सेवा की धारा निःसृत होती है। साध्य और साधनों उन्होंने एकता को आवश्यक माना। उच्च साध्य की प्राप्ति के लिए साधन

भी पवित्र होने चाहिए। उनका सामाजिक आदर्श 'सर्वोदय' है। शासन का आदर्श रामराज्य बना और जीवन का आदर्श—सत्याग्रह। सर्वोदय के अन्तर्गत शोषकों को नष्ट करने का कार्यक्रम नहीं है : उनका हृदय-परिवर्तन ही ध्येय है। सत्य ही ईश्वर है। इसी के आधार पर प्राणिमात्र की एकता सिद्ध की गई।

गांधी दर्शन की संरचना में गीता का निष्काम कर्मवाद, जैन और बौद्धों की सेवा, अहिंसा और करुणा तथा वैष्णवों की आध्यात्मिक चेतना मिलती है। त्याग और तपस्या के जीवन की प्रतिष्ठा इस दर्शन के आधार पर हुई। कला और साहित्य के क्षेत्र में शिव और सत्य पर बल दिया गया और सुन्दर को इनमे समन्वित माना गया। गांधी जी ने साहित्य का सम्बन्ध नैतिकता, लोकहितकारिता और उपयोगिता से जोड़ा। समस्त कला और साहित्य को आचरणगत शुद्धि की प्रेरणा देनी चाहिए। इनको नैतिकता से अलग नहीं किया जा सका।

गांधी की विचारधारा से तत्कालीन जीवन बहुत प्रभावित हुआ। साहित्य भी इनके प्रभाव से बच नहीं सका।

इसी युग मे रूस में लेनिन ने जन क्रान्ति का घोष किया। साम्राज्यवाद के विरोध को नया रूप मिला। रूस की ही सहायता से चीन ने सनायत सेन की क्रान्ति प्रारम्भ हुई। संसार भर मे क्रान्ति की भावना को नवीन प्रेरणा और परिभाषा मिलने लगी। क्रान्ति का रूप देश-देश मे अपनी विशेषताओं को लेकर घटित और विकसित होने लगा। उग्रदल के नेता तिलक, लाजपतराय और विपिनचन्द्रपाल के क्रियाकलाप और विचार बिन्दु स्वदेशी आन्दोलन का रूप ग्रहण करने लगे। राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाएं नवीन क्रियान्विति की ओर अग्रसर हुई।

1916 मे अबीसीनिया के द्वारा इटली पराजित हो चुका था। इसके ठीक पांच वर्ष बाद जापान की रूस पर विजय हुई। योरोपीय जातियों की अजेयता की भ्रान्ति का कुहासा हटने लगा।

1913 मे रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस सम्मान से राष्ट्र पुलकित हो उठा। भारतीय साहित्यकारो मे साहित्य की नवीन दृष्टियों के प्रति जिज्ञासा का भाव उत्पन्न हुआ।

द्विवेदी युग मे साहित्य बुद्धिवादी दृष्टि से अनुप्राणित होने लगा। वैज्ञानिक विकास ने जहाँ सामाजिक संरचना में परिवर्तन किया, वहां सामाजिक समस्या के सम्बन्ध मे बुद्धिवादी दृष्टि से सोचने के लिए भी विवश और प्रेरित किया। विचार धारा मे पाश्चात्य जीवन दृष्टि सन्निविष्ट होने लगी। इसी परिवेश ने बुद्धि प्रधान साहित्य के सृजन की प्रेरणा दी। देश का शिक्षित जनसमुदाय पाश्चात्य सभ्यता की ओर झुका। कुछ जागरुक लेखक और विचारक-पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण के विरुद्ध थे और चुनाव तथा ग्रहण की बुद्धि प्रेरित प्रक्रिया के पक्षपाती थे।

बुद्धिवादी विचारधारा रूढ़ियो ग्रौर मृत परम्पराग्रो के प्रति असहिष्णु हो उठती है। रूढ़ियों से समाज की काया को मुक्त करने की कामना बलवती हो उठती है। भाषा ग्रौर साहित्य दोनो ही नवोदित बौद्धिकता के वहन ग्रौर प्रेषण के लिए नवीन सस्कारो से सुसज्जित होने लगे।

जब ग्रौद्योगीकरण का ग्रारम्भ हुग्रा तब भारत मे वर्ग चेतना का स्वरूप भी बदला। जहा ग्रार्थिक दृष्टि से पूंजीपति का उदय हुग्रा, वहां समाज मे एक जागरूक मध्य वर्ग ने भी जन्म धारण किया। ग्रग्रेजी शिक्षा ग्रौर पाश्चात्य जगत के सम्पर्क ने मध्यवर्गीय चेतना को प्रबुद्ध ग्रौर शाणित किया। नवोदित बुद्धिवाद इस वर्ग की विशेषता थी। लोकतन्त्र का ग्राकर्षण बढ़ने लगा। राजनीतिक, सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक समानता का सूत्र दृढ़ होने लगा। भारतीय ग्राधुनिकता में प्रतीक ग्रौर संबल के रूप मे 'कर्मवाद'[1] ग्रपनाया गया। पूंजीपतियों ग्रौर मध्यवर्गीय श्रमजीवियों के बीच वर्ग संघर्ष की स्थिति बनने लगी।

वैसे तो साहित्य के बहुमुखी विकास का परिचय भारतेन्दु युग के इतिहास से मिलने लगता है, किन्तु द्विवेदी युग में यह विकास ग्रधिक दृढ़ता ग्रौर सम्भावना से मण्डित होने लगता है। द्विवेदी युग वास्तव मे बहुरूप परिवर्तन का युग है। सामाजिक ग्रौर मानसिक दृष्टि से यह युग व्यापक परिवर्तनो का काल है। पुराने सभी युगो की ग्रपेक्षा इस युग मे ग्रधिक प्रतिभाग्रो का उदय हुग्रा जिन्होने साहित्य का बहुमुखी ग्रौर बहुउद्देश्यीय विकास किया। जातीय गौरव का सात्विक गर्व, इतिहास का राष्ट्रीय रूप, राष्ट्रोत्थान का नव विवेक, नवयुग की शक्तियो का बोध,स्वतन्त्रता की प्रबल इच्छा, ग्रौर उदार मानववादी दृष्टि से साहित्य की ग्रात्मा जगमगा उठी। विषय ग्रौर वस्तु, शैली ग्रौर शिल्प की नवीन दृष्टिया उन्मीलित होने लगी। शुद्ध ग्रौर परिनिष्ठित भाषा के माध्यम से नैतिक मानो को ग्रभिव्यक्ति देने की प्रेरणा महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व से निःसृत हुई।

इस युग के गद्य साहित्य मे ब्रिटिश साहित्यकार भी प्रेरणा स्रोत बने। गद्य की विधाग्रों ने नयी दिशा मे गति-विस्तार किया। वैसे इस युग मे साहित्य के प्रत्येक ग्रंग की उन्नति हुई।

द्विवेदी युग भाषा संस्कार के लिए प्रसिद्ध है। देश मे व्यापारी वर्ग की ग्रार्थिक मनोवृत्ति जब प्रबल होने लगी ग्रौर धार्मिक रूप से ग्राध्यात्मिकता से विच्छेद होने लगा, तो तदनुरूप भाषा संस्कार भी ग्रावश्यक हो गया। पश्चिमी सम्पर्क से यथार्थ बोधक शब्दावली का लेखन में प्रवेश होने लगा ग्रौर हिन्दी मे उनको पचाने की शक्ति भी ग्राने लगी। ग्रंग्रेजी, बंगला ग्रादि के शब्दों को भाषा ग्रहण करने लगी।

---

1. तिलक महाराज ने गीता की कर्मवादी व्याख्या की। इसी परम्परा मे गाधी ग्ररविन्द ग्रौर विनोबा ग्रादि की व्याख्यायें भी ग्राती हैं।

२.२ राष्ट्रीयता

प्रचलित अर्थ में राष्ट्रीय भावना आधुनिक युग की देन तथा साहित्य की एक प्रमुख और विकासशील प्रवृत्ति है। कुछ विचारक इस प्रवृत्ति का विकास क्रम यद्यपि मुस्लिम आक्रमण और उसके प्रति भारतीय प्रतिक्रिया से स्थिर करते हैं। पर उस युग के हिन्दू राजाओं ने मुसलमान से जो युद्ध किए उनमे राष्ट्रीय उद्देश्य निहित था ऐसा प्रायः सिद्ध नही हो पाता। उस समय समस्त भारत की रक्षा या उसके लिए कोई संगठित प्रयास नही मिलता। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में 'राष्ट्र' का रूप भी स्पष्ट नही था। इसीलिए आधुनिक अर्थ में भारतीय राष्ट्रीयता का विकास 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही मानना तर्क संगत होगा। राष्ट्रीयता की यह लहर एक शताब्दी तक-1850-1950-राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियो का नियमन करती रही। इसे हम सुधार और नवजागरण के साथ चलते हुए या उससे उत्तरवर्ती विकास के रूप मे देख सकते हैं। भारतीय आधुनिकता का यह दूसरा चरण कहा जा सकता है।

वैसे तो सारे संसार में राष्ट्रीय भावना उत्तेजित हुई किंतु भारतीय राष्ट्रीयता का इतिहास एक विशिष्ट स्थान है। यूरोप के संकीर्ण राष्ट्रवाद ने, पारस्परिक विद्वेष और घिनौनी प्रतियोगिता ने प्रथम विश्व युद्ध का रूप धारण भी किया। यूरोप के राष्ट्र उपनिवेशों के बनाने और हथियाने के लिए शक्ति परीक्षण में संलग्न हुए। राष्ट्रवाद के इस जघन्य रूप को देखते हुए तटस्थ विचारक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के स्वर सजोने लगे। दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा एक विश्वव्यापी क्रांति की सम्भावना मे झूमने लगी। किंतु भारतीय राष्ट्रीयता की रचना और परिणति विशेष प्रकार से हुई।

भारतीय राष्ट्रीयता गुलामी से विमुक्ति की बेचैनी को लेकर चली। कालांतर मे गांधीवादी मानवतावाद ने राष्ट्रीयता को उदात्त और उदार बनाया। साथ ही विश्वव्यापी साम्राज्यवाद और उपनिवेश को भारतीय राष्ट्रीयता ने चुनौती दी। एक

प्रकार से सारे उपनिवेश आजादी के लिए संघर्ष करने की ओर प्रेरित हुए। मानव मूल्यों की ओर मानवीय अस्तित्व की अवहेलना करने वाले मशीन युग को भी एक चुनौती मिली। वृहत् औद्योगीकरण के बीज लघु उद्योगों की स्थिति को बनाये रखने की आवश्यकता को मानववादी धरातल पर प्रमाणित किया गया। तात्पर्य यह है कि भारतीय राष्ट्रीयता सही अर्थों में आधुनिकता के दूसरे चरण के रूप में प्रतिष्ठित हुई। हिन्दी साहित्य में भी इसकी कारगर परिणतियां नजर आने लगी।

राष्ट्रीयता का मूल भाव 19वीं और 20वीं शताब्दी में जगाया गया। विदेशी सत्ता से नजात पाने के लिए राष्ट्र के भौगोलिक अस्तित्व में से एक ऐतिहासिक राष्ट्र को उकेरा गया। मातृ भूमि का प्रतीक देश के भाव स्तरों में उतरा—वंदेमातरम् ! और यह भारतीय राष्ट्रीयता पश्चिम की लड़ने-लड़ाने वाली नस्ल परक राष्ट्रीयता से भिन्न थी।

भारत के शासन की बागडोर ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में चली गई। सन् 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के पश्चात् विक्टोरिया की इतिहास-प्रसिद्ध घोषणा हुई। यूरोप के साहित्य के अध्ययन और एक प्रबुद्ध शक्ति के सम्पर्क से एक बौद्धिक जागरूकता भारतीय वर्ग में आने लगी थी। 'पहले स्वाधीनता संग्राम की पराजय भारतीय जनता के वक्ष में अन्तर्ज्वलनशील चिनगारी के समान समा गई थी : दीपक का निर्वाण हुआ, पर उसकी चिनगारी मरी नहीं। इस चिनगारी की प्रतीति अनेक प्रकार से होने लगी। अंग्रेजी राज्य की केन्द्रीय सत्ता के कारण सारा देश एकता का अनुभव करने लगा था। इसलिए समस्त नवोत्तेजनाएं एक व्यापक वातावरण में फैल जाती थी। पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन एवं यातायात के साधन, प्रचार की सुविधाएं भी प्रदान कर रहे थे। योरोप के विभिन्न देशों में स्वातन्त्र्य आदि के हुए आन्दोलनों और क्रांतियों का भाव छन-छन कर आने लगा था। रूस और फ्रांस की क्रांतियों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा।

निश्चय ही सन् 1857 की क्रान्ति राष्ट्रीय भावना का ही विस्फोट था। इसके साथ स्वाभिमान की भावनाएं संलग्न थी और स्वतन्त्रता की इच्छा भी सबल थी। इसकी असफलता से उत्पन्न निराशा निष्क्रिय रूप में नहीं थी। बौद्धिक जागरण के क्षणों में निराशा भावी क्रान्ति के बीज वपन करती है। इस निराशा ने और विदेशी शासन की शंकाकुल सजगता ने राष्ट्रीय भावना या स्वातन्त्र्येच्छा की बाह्य अभिव्यक्ति की परिस्थितियों को समाप्त कर दिया। आत्म-निरीक्षण इस दृष्टि से आरम्भ हुआ कि अपनी उन दुर्बलताओं को समझ लिया जाय जो राष्ट्रीय पराजय में कारण बनी। यह स्पष्ट ही था कि हमारे समाज-संगठन की जाति-पांति की संकीर्ण प्रवृत्ति ही इसके लिए विशेष उत्तरदायी थी। वर्ण व्यवस्था, धार्मिक सम्प्रदायवाद या रूढ़ अन्धविश्वासों के कारण राष्ट्रीय चेतना केन्द्रीभूत नहीं हो पाती थी अतः

अपनी आतरिक दुर्बलताओं को पहले समाप्त करने के प्रयास करना अनिवार्य हो गया। इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हमारा 'राष्ट्र-तत्त्व' मुखरित हुआ।

आर्य समाज ने एक धर्म प्राण आन्दोलन चलाया जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय था। स्वामी दयानन्द ने हमारी भारतीय विचारधारा की मूलधाराओं को खड़ी बोली गद्य के माध्यम से प्रकट किया। इन्होने यह प्रयत्न किया कि जिस प्रकार मुस्लिम और ईसाई धर्मों में कुछ ऐसे आचार हैं जो उन्हें संगठित रखते है, उसी प्रकार हिन्दुओं के धर्म का भी ऐसा सर्वमन्य रूप प्रतिष्ठापित किया जाय, जहां आकर सब एक हो जायें। उन्होंने उस वैदिक धर्म की स्थापना की चेष्टा की, जिससे किसी का विरोध नही था और रूढ़ सम्प्रदायों का विरोध भी किया। इसके अतिरिक्त आर्य समाज का सामाजिक पक्ष भी था। अछूतोद्धार, जैसे संगठनशील कार्य इस संस्था के साथ सम्बद्ध थे। यह युग के जागरण और उदबोध को अपने साथ लेकर चला। एक जाति, एक धर्म; एक संस्कृति, एक भाषा जैसी राष्ट्रीय मार्ग इस संस्था ने की। इस प्रकार आर्य समाज ने उस राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात किया, जिसको एक बौद्धिक उत्क्रान्ति सुदृढ आधार-भूमि प्रदान कर रही थी।

आर्य समाज की स्थापना के ठीक दस वर्ष बाद 1885 ई० मे कांग्रेस की स्थापना हुई। राजनीतिक और नागरिक अधिकारो की चेतना और मांग कांग्रेस के मंच से उठने लगी। इन मांगो की स्वीकृति के लिए राजनैतिक सगठन होने लगा। इस प्रकार धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना का संगम राष्ट्रीय भावनाओ के प्रथम उन्मेष के लिए पर्याप्त आत्मशक्ति और नैतिक शक्ति प्रदान करने लगा।

इसी समय भारतेन्दु ने एक साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन ने विषय और माध्यम रूढ को मध्यकालीन शृंखलाओं से मुक्त किया। नायक-नायिकाओं के विलासपूर्ण चित्र वाष्पपिंडो की भांति तिरोहित हो गये। अलंकार-लक्षण भी आकर्षण खो चुके थे। पाश्चात्य साहित्य के परिचय और सम्पर्क ने एक नवीन प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान कर इससे नवीन साहित्यिक पद्धतियो और नवीन गद्यरूपो को जन्म दिया। गद्य शैली जीवन के जागरण के इन क्षणों का साथ देने के लिए तत्पर हो गई। ब्रजभाषा अपने शृङ्गार विह्वल रूप को लिए गद्य के क्षेत्र से उठ गई। काव्य मे यह गृहीत रही, पर नवीन विषयो की रचना के लिए। संक्षेप में साहित्य-क्षेत्र भी नवीन युग की धड़कनों का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गया।

भारतेन्दु ने तथा उनके युग के अन्य लेखको ने राष्ट्रीय भावना की उत्तेजना का गहराई से अनुभव किया। तत्कालीन समस्याओ और परिस्थितियों के यथार्थ को प्रथम बार स्पष्ट रूप से साहित्य मे समेटने का प्रयत्न भारतेन्दु युगीन साहित्य को

प्रमुख विशेषता है। उन सभी तत्वों का विवेचन-व्याख्यान भी साहित्य मे मिलता है, जिनमे राष्ट्रीय भावना कुंठित हो जाती है । पर प्रारम्भ मे एक सन्तोष की सास ही साहित्य मे मिलती है। मुगल साम्राज्य की अन्तिम घड़ियों से लेकर भारतेन्दु युग तक राजनीतिक उथल-पुथल और शासन की अव्यवस्था से, भारतीय जनता क्षुब्ध थी। इस क्षोभ को एक सुव्यवस्थित साम्राज्य-व्यवस्था मे एक प्रकार की शान्ति का अनुभव हुआ। यह भाव राज-भक्ति के रूप मे फूट पड़ा। विक्टोरिया का घोषणा पत्र जिस उदार मनोभूमि का परिचय दे रहा था, उसने इस राजभक्ति को बल दिया। 'प्रेमघन' ने ब्रिटिश शासकों को भारत की राजभक्ति का परिचय दिया—

राजभक्ति इनमें रही, कैसी प्रकथ अनूप।
वैसी ही तुम आज हू, रै हो पूरव रूप।।
सर्व गुनन के पुंज नर, भरे सकल जग माँहि।
राजभक्त भारत सरिस और ठौर कहुं नाहिं।।'[1]

कम से कम हिन्दू धार्मिक अत्याचार से मुक्त हो गए थे। उनका स्वर इस प्रकार का हो जाना स्वाभाविक हो गया। अम्बिकादत्त व्यास ने विकास-कार्यों की प्रशंसा की—

गाव गाव विद्यालय करिकै बहुत विवेक बढ़ायो।
यान चलाइ रेल की तोपें मानों नगर उड़ायो।।

इस राज-भक्ति-दर्शन मे भी भारतीय गौरव का स्वर व्याप्त है। साथ ही इस शान्ति के समय को यदि भारतीय जनता नष्ट कर देगी तो सदैव के लिए पतन हो जायेगा। अत. अपने भावों के अभ्युत्थान के लिए इसका सदुपयोग करने की प्रेरणा कवि ने दी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की प्रेरणा का स्वर कितना स्पष्ट है-

उठो आर्य-सन्तान सकल मिलि, बस न बिलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश राज स्वातन्त्र्य समय, तुम व्यर्थ न बैठि गॅवाओ।

इस प्रकार राज-भक्ति के स्वरो मे बौद्धिक जागरण कुनमुना रहा है। वह इसे अपने सौभाग्य के रूप मे तो स्वीकार कर रहा है, पर यह स्पष्ट बतला देना चाहता है कि यह व्यवस्था एक निश्चित सीमाओं तक ही चल सकती है। उसके पश्चात् तो हमें स्वशासित ही रहना है।

धीरे-धीरे पूंजीवादी साम्राज्यवाद के दमन और शोषण प्रकट होने लगे। धार्मिक स्वतन्त्रता को कवि ने कूटनीति ही समझा। 'काले' और 'गोरे' के बीच भेद प्रकट होने लगा। एक ओर 'प्रेस' के सम्बन्ध में एक्ट बना, दूसरी ओर 'आर्म्स एक्ट'। बौद्धिक रूप से जागृत कवि इनके निहित उद्देश्यों को समझ गया–यह तो हमारे दमन गत्यावरोध की क्रूर भूमिका है और गुलामी को स्थिर रखने की चेष्टा

[1] आर्याभिनन्दन से

भी। हरिश्चन्द्र ने स्पष्ट कहा—

सर्वाहि भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी लोग।
शस्त्र और मुद्रण विषय करो तिन्हू की रोक ।।

भारतीय स्वामीभक्ति पर इतना अविश्वासपूर्ण व्यंग्य देख कर कवि की चेतना कटुता से भर गई। साथ ही शोषण दीखने लगा, तो कवि को और भी गहरी राष्ट्रीय वेदना हुई। अपना धन सात समंदर पार जा रहा है—यह यथार्थ इतना व्यापक था कि कवि का स्वर दुरंगा हो गया—

अंग्रेज राज्य सुख साज सज्यो अति भारी।
पै धन बिदेस चलि जाइ यही दुख भारी।।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख देत ईसा हा हारी ।।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

साम्राज्यवादी शोषण स्पष्ट हो गया। और यह शोषण का प्रश्न पहेली बन कर देश के सामने प्रकट हो गया। अंग्रेजों की तथाकथित सदाशयता की कलई खुल गई। अंग्रेज का नग्न कंकाल अर्थ-दस्यु के रूप में प्रकट हो गया—

भीतर भीतर सब रस चूसै,
बाहर से तन-मन धन भूसै।
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि साजन, नाहिं अंग्रेज।

दमन-चक्र के प्रति प्रताप नारायण मिश्र की प्रतिक्रिया और भी गहरी पीड़ा लिए है—

यह जिय धरकत यह न होइ कोइ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारहिं अरु रोवन नहिं देत ।।

इस प्रकार दमन, आर्थिक शोषण-चक्र, जासूसी, अकारण दण्ड आदि यथार्थ प्रथम उन्मेष में ही व्यक्त हो गए। जीवन के यथार्थ के प्रति पहले बहुत दिन से कवि जागरुक नहीं हुआ। इस उन्मेष के वाहक कवियों ने 'भारत को 'दुर्दशा' चित्रित की। इस चित्रण में भावोत्तेजन के तत्त्व तीव्र थे। इस चित्रण का उद्देश्य जागरण के थपेड़ों को सर्वत्र अनुभव करा देना था। साथ ही इस भाव की उद्दीप्ति के लिए भारत माता का मलिन चित्र भी खींचा गया। 'भारत जननी' ऐसे ही चित्रों का संग्रह है—

मलिन मुख भारत माता तेरो
वारि झरत दिन रैन नैन सो
लखि दुखहोत घनेरो।

और—

हाय ! वहै भारत भुवभारी । सबही विधि सों भई दुखारी ।
हाय पंचनद ! हा पानीपत । अजहुं तुम धरनि विराजत ॥

इसी प्रकार भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी' 'विषस्यविषमौषधम्' 'वैदिकी हिंसा जैसे प्रहसन करारे व्यंग्यों से समन्वित हो गये । व्यंग्य मुख्यतः अराष्ट्रीय और बाधक तत्त्वों पर हैं । इस प्रकार कहीं लोक-शैली में, कहीं व्यंग्यों में, कहीं स्पष्ट, कहीं प्रच्छन्न राष्ट्रीय भावना अपनी अभिव्यक्ति ढूंढने लगी । यह राष्ट्रीयता का भाव, मात्र दिखावा नहीं था, यह यथार्थ अनुभूति थी । आंखों देखे यथार्थ के प्रति यह एक बौद्धिक प्रतिक्रिया थी । अन्त में प्रतापनारायण की पंक्तियां उद्धृत करके प्रथम उन्मेष से विदा ले सकते हैं—

चहहु जो साचो निज कल्यान ।
तो सब मिलि भारत सन्तान ॥
जपहु निरन्तर एक जबान ।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥
रीझै अथवा खीझै जहान ।
मान होय चाहे अपमान ॥
पै न तजो रटिबे की बान ।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥[1]

प्रथम उन्मेष में देश का यथार्थचित्रण, अतीत की गौरव गाथा एवं सर्वाङ्गीण राष्ट्रीय विकास की बौद्धिक दृष्टि के भाव को समाए रहे । समाज-सुधार की लहरें अनेक संस्थाओं को जन्म दे रही थीं । आर्य समाज की शिक्षा संस्थाएं कालिज और गुरुकुल उत्तर भारत के कोने कोने में बिखर गए । वैदिक संस्थान, वैदिक संस्कृति और विचारधारा का प्रचार करने लगे ।

इसकी प्रतिक्रिया में एक दूसरा आन्दोलन साहित्य के क्षेत्र में चला । वैदिक स्रोतों से हिन्दी साहित्य विषय-वस्तु ग्रहण न कर सका । अतः पौराणिक वृत्तों का पुनराख्यान और ऐतिहासिक घटनाओं और महापुरुषों के जीवन का पुनर्निरीक्षण आरम्भ हुआ । उनके विधान में नवीन आदर्शों और मूल्यों की स्थापना कर के उनको युगानुकूल बनाया गया । भगवान के अवतारों की कल्पना पुराण साहित्य की सबसे प्रबल कल्पना थी । यह आर्य समाज के सिद्धान्तों के विरोध में पड़ती है । अवतरित रूपों के मानवीय अंश को दिव्य छाया में उभारा जा सकता था । इस कल्पना को लेकर भारत-भूमि को भी एक मूर्त देवी के रूप में कल्पित किया गया । बंकिमचन्द्र

1. प्रताप पीयूष से ।

ने 'वन्दे मातरम्' में इसी मातृभूमि के देवत्व और उसकी समृद्धि को सजीव किया। इसी भावना से प्रेरित होकर देश की प्राकृतिक छटा को राष्ट्रीय भावना से युक्त कर के कवियों ने चित्रित किया : पं. श्रीधर पाठक का 'काश्मीर वर्णन' 'प्रकृति वैभव' इसी प्रकार की रचनाएं हैं। इस प्रकार मातृभूमि का देवी रूप प्रतीको पासना का रूप लेने लगा। मातृभूमि वन्दना में भौगोलिक तत्त्व उभरने लगे। पं. श्रीधर पाठक की 'भारत प्रशंसा' देखिए—

> गिरवर भ्रू भ्रंग धारि गंगाधर कण्ठहार।
> सुरपुर अनुहार विश्व वाटिका विहारी॥
> उपवन-वन-वीथि जाल, सुन्दर सोई पट दुसाल।
> कालिमाल विभ्रमालि मालिकाऽलिकाऽली॥

इसमें शैली भी स्तवन की है और भावना भी भक्ति की, भक्ति मातृभूमि के प्रति है। मातृभूमि ही सबसे बड़ी शक्ति है। इस प्रकार 'वन्दे मातरम्' की वस्तु और भावना देश भर में भर गई। यह भावना रुकी नहीं आगे चलती ही रही। दिनकर में यह भावना और भी प्रबुद्ध है। 'हिमालय के प्रति' के स्वर कितने भक्ति-संकुल हैं—

> मेरे नगपति मेरे विशाल
> साकार दिव्य गौरव विराट
> पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
> मेरी जननी के हिम किरीट
> मेरे भारत के दिव्य भाल
> मेरे नगपति मेरे विशाल।

देश की भौगोलिक गरिमा के प्रति कवि की आत्मीयता कितने रागरंजित स्वरों में व्यक्त हुई है। ये स्वर अनेक कवियों में मुखर हो उठे, मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरणसिंह प्रसाद आदि सभी में मातृभूमि वंदना के स्वर-घोष मिलते हैं।

अब तक राष्ट्रीय भावना दार्शनिक आधार ग्रहण नहीं कर पायी। अब राष्ट्रीय रङ्गमञ्च पर तिलक, गोखले और गांधी जैसे व्यक्तित्व प्रकट हुए। तिलक ने 'गीता-रहस्य' के द्वारा मानसिक चेतना और सामाजिक निष्ठा को कर्मवादी आधारभूमि प्रदान की। महात्मा गांधी ने आत्मशक्ति, सत्य, अहिंसा आदि मानवीय मूल्यों का प्रयोग-सिद्ध किया और हिंसा की ज्वाला के बीच इनकी शीतलता की स्थापना की। उन्होंने इन प्रयोग-सिद्ध जीवन मूल्यों के आधार पर विदेशी सत्ता को हटाने का उद्योग किया। सम्भवत: इससे बड़ा प्रयोग इन मूल्यों का विश्व के स्वाधीनता संग्राम में कहीं नहीं हुआ। महात्मागांधी की विचारधारा के पीछे बुद्ध, ईसा और टाल्स्टाय के जीवनादर्श थे। इस प्रकार राष्ट्रीयता एक मानवतावादी आदर्श से समन्वित हुई।

इसी समय थियोसोफिस्टों का धार्मिक आन्दोलन भी बल पकड़ने लगा। यह राष्ट्रीय आन्दोलन से इतना घुलमिल गया कि दोनों में एक घनिष्ट सामञ्जस्य दिखलाई पड़ता है। साहित्य में इन प्रेरणाओं ने सर्वमानववाद को जन्म दिया। इनके साथ ही हम रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविंद की राष्ट्रीय परिवेश में पनपी दार्शनिक चेतन-चिन्ता को भी नहीं भूल सकते। इन सबने मिलकर मानव-मूल्यों पर आधारित नव-निर्वेचित दर्शन से पुष्ट, राष्ट्रीयता को जन्म दिया। इसका रूप ऐसा हो गया कि सभी सहानुभूति मिल सके। इस राष्ट्रीय आन्दोलन को इतना भव्य रूप प्रदान कर दिया गया कि सत्तारूढ अधिकारी का खोखलापन और उसकी दुर्बलता विश्व पर स्पष्ट होने लगी। इसी आन्दोलन के साथ अछूतोद्धार जैसे सुधारवादी आन्दोलन भी आ मिले और इसे शुद्ध राजनीतिक आन्दोलन नहीं, एक सर्वतोमुखी आन्दोलन का रूप प्रदान किया।

हिन्दी साहित्य में आन्दोलन के सभी पक्षों पर कविताएँ लिखी गई। यहाँ बल स्वदेशी पर था। स्वदेशी आन्दोलन के राजनैतिक और आर्थिक दोनों पक्ष थे। साथ ही इसमें एक आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और अन्ततः आध्यात्मिकता जगाने का उपक्रम था। देवीप्रसाद पूर्ण ने 'स्वदेशी कुण्डल' लिखा। इसमें स्वदेशी आन्दोलन की आत्मा गूंज रही है—

'गाढ़ा भीना मिलै उसकी हो पोशाक
कीजै अङ्गीकार तो रहै देश की नाक
रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने
जिन्हें नहीं दरकार विकन योरोप का काढ़ा
तन ढकने से काम गजी होवै या गाढ़ा।'

इस प्रकार 'खादी' प्रतीक इतने सरल शब्दों में पूर्ण जी ने रखा। पूर्ण जी उस वस्तु-तथ्य से भी अवगत थे जो औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पन्न करदी थी। 'खादी' का उस औद्योगिक मशीनवाद से समझौता नहीं था। पर पूर्ण जी को मशीन भारतीय जीवन के विकास के लिए अनिवार्य दीख रही थी। इसलिए उन्होंने कहा—

'भरतखण्ड ! कल बिना तुझे, हा, कैसे कल है ?'

खादी से सम्बद्ध आर्थिक अभिप्राय को महावीर प्रसाद द्विवेदी इस ने प्रकार स्पष्ट किया।

विदेशी बस्त्र क्यों हम ले रहे हैं ? वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं। 'चरखा' स्वदेशी आन्दोलन का अस्त्र था। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतीकों में इसका भी महत्व-पूर्ण स्थान है। इसने मशीन को ललकारा। इसकी गति में जीवन की गति प्रति-ध्वत थी। इसके साथ ही भारत का भाग्य सम्बद्ध हो गया। 'प्रेमघन जी' के चरखे

के दर्शन को अपने एक गीत का विषय बनाया—

चल चल चरखा तू दिन-रात !
लङ्का से लङ्काशायर का कर विलम्ब बिन घात।
ज्यों ज्यों तू चलता त्यों त्यों आता स्वराज्य नियरात ।।

सोहनलाल द्विवेदी ने खादी की सांस्कृतिक स्थिति स्पष्ट की—

खादी के धागे-धागे में अपनेपन का अभिमान भरा ।
माता का इसमे मान भरा, अन्यायी का अपमान भरा ।।
खादी के रेशे-रेशे में अपने भाई का प्यार भरा।
मां बहिनों का सत्कार भरा, बच्चों का मधुर दुलार भरा ।।

राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' राष्ट्रीय एकता का स्वर भी मुखर किया । हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी की एकता राष्ट्रीय आन्दोलन की मांग थी।

ईसाईवादी पारसी सिक्ख यहूदी लोग ।
मुसलमान हिन्दी यहां हैं सबका संयोग ।

यह राष्ट्र को सांस्कृतिक और धार्मिक वैविध्यों से भरी गरिमा है । इस मोटे रूप मे स्वदेशी आन्दोलन के सभी प्रतीकों पर कविता रच कर हिन्दी के कवियो ने राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान दिया ।

जहां तक राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में स्थित दार्शनिक और आदर्श मानवतावादी तंत्र विधान का प्रश्न है, उसको भी साहित्य मे अभिव्यक्ति मिली। प्रेमचन्द जी के प्राय सभी उपन्यास, गुप्तजी के यशोधरा, अनघ और साकेत, हरिऔधजी का प्रिय प्रवास, इसी आदर्शवादी पृष्ठभूमि पर हुई रचनाएं हैं । प्रियप्रवास की नायिका राधा समाज सेविका के रूप में अवतरित हुई। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' और 'स्वप्न' खण्डकाव्य राष्ट्रीय अनुभूतियो और आदर्श मानवतावाद से समाकुल हैं। राष्ट्रीय नव जागरण का प्रभाव हिन्दी में ही नही समस्त भारत के साहित्य मे परिलक्षित होता है । बकिम का 'आनन्दमठ' शरत का 'गृह दाह' और 'पथेरपाचाली', रवीन्द्र की 'गोरा' और प्रेमचन्द की 'रंगभूमि', 'सेवासदन और 'प्रेमाश्रम' जैसी रचनाओ ने आदर्श और राष्ट्रीय चेतना की समन्वित अनुभूतियां अभिव्यक्त की है ।

अतीत के गौरवगान मे भी आदर्श की छाया प्रगाढ़ होती गई । 'भारत-भारती" अतीत आदर्शों मे भर उठी । उसमे वीरता और परोपकार के आदर्श प्रबल हैं। अन्य सभी कवियो ने अतीत के आदर्श चरित्रों को राष्ट्रीय परिवेश मे नव जीवन दिया। इस आदर्श के गौरव-गान के साथ आदर्श-च्युत होने की करुणा भी है । सियाराम शरण की पंक्तियां देखिए—

सर्वत्र ही कीर्तिध्वजा उड़ती रही जिनकी सदा;
जिनके गुणो पर मुग्ध थी सुख शान्ति संयुत सपदा।

अब हम वही संसार में सबसे गए बीते हुए।
हैं हाय ! मृतकों से बुरे अब हम यहां जीते हुए।

अतीत का इतिहास साक्षी है कि भारत के जीवनादर्शों ने दिग्विजय की थी। वह विजय शास्त्र की नहीं, आदर्शों की थी। दिनकर की कविता में ये स्वर बहुत तीव्र हैं।

यह आदर्शवादी राष्ट्रीयता की साहित्यिक परिणति है। इस मानवतावादी राष्ट्रीयता ने जीवन की एक नवीन आलोचना की। सामाजिक जीवन के मृत तत्त्वों को समाप्त करने का उपक्रम हुआ। सामाजिक मूल्यों की ओर जनता को आकर्षित करके कवि ने उसकी राष्ट्रीय चेतना को नैतिक बल प्रदान किया। परम्परा का राष्ट्रीय रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ। आत्मशक्ति की विजय के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य जुटा कर इस साहित्य ने प्रभूत बल और विश्वास उत्पन्न किया। सामाजिक जीवन की सर्वाङ्गीण समीक्षा और उसके यथार्थ-बोध की स्वीकृति करके एक स्वाभिमान की भावना को भी साहित्य ने जन्म दिया। यह आदर्शवादी आन्दोलन साहित्य में अशेष रूप से अवतरित हुआ और द्वितीय उन्मेषकाल में राष्ट्रीय साहित्य समृद्ध हो गया। साथ ही स्वदेशी आन्दोलन ने मानव-मूल्यों का तिरस्कार करने वाली पाश्चात्य जगत् की मशीनवादी संस्कृति को ललकारा। उद्योग जहां मानव के शोषण पर आधारित था, उसको मानव-प्रेम पर आधारित करने के लिए गृह-उद्योग का पक्ष समर्थन किया। ये राष्ट्रीय साहित्य के अतिरिक्त आयाम थे। इस काल के राष्ट्रीय-साहित्य में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान अतीत-गान के रूप में आया और आदर्श मानववाद की प्रतिक्रिया ने राष्ट्रीय आन्दोलन को मानवतावादी संस्पर्श से विस्तृत कर दिया।

धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का आन्दोलन अपनी आत्मशक्ति को लेकर जटिल संघर्षों में प्रविष्ट हुआ। दमन का सामना करना पड़ा। बन्दीगृह आजादी के दीवानों के लिए पवित्र कृष्ण मन्दिर बन गए। बालकृष्ण शर्मा नवीन, सनेही जी, माखनलाल चतुर्वेदी ने स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया। साथ ही समाज के विकृत और विकल अङ्गों के प्रति सुधार के स्थान पर क्रान्ति की भावना को जगाया। दिनकर के स्वरों में भी क्रांति का धर्म उपस्थित हुआ। वस्तु सत्य का कटु यथार्थ अधिक उत्तेजना देने लगा। त्याग और बलिदान संघर्षकालीन जीवन के सर्वोच्च मूल्य बन गए। समझौता के इस युग में कवि को कुछ ऐसे तत्त्व भी दिखलाई पड़ने लगे, जिनके साथ समझौता नहीं हो सकता। उनके विनाश के लिए नाश के देवता का आह्वान भी हुआ और विद्रोह के स्वर भी अधिक उग्र हुए। जीवन के यथार्थ इतने जटिल हो हो गये कि पूर्वकालीन आदर्शवाद और मानववाद कुछ खोखले से प्रतीत होने लगे

यथार्थ से जूझने की प्रेरणा प्रबल होने लगी। निरपेक्ष आदर्श यथार्थ जीवन की

सापेक्षिता में अपनी परीक्षा देने लगे। इन संघर्ष में आदर्शों और मूल्यों का रूप निखरने लगा। वर्तमान रूढ़ियों के प्रति कवि का रोष प्रकट हुआ। इस सज्जा के साथ हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना का तृतीय उन्मेष हुआ। संघर्ष इतना जटिल और प्रारम्भिक स्थितियों में, इतना निराशापूर्ण रहा कि बहुत से कवियों के लिए गांधीवादी आदर्शों पर विश्वास समाए रखना कठिन हो गया। ये मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि से प्रभावित होकर प्रगति के पथ पर चलने लगे। जो किसी प्रकार अपना विश्वास जमाए रहे, वे राष्ट्रीय काव्यधारा के उग्र कवि बन गए। क्रान्ति, आग, नाश आदि शब्द-प्रतीक अहिंसा के साथ प्रकट हुए। पर खुले आम अहिंसा में अविश्वास प्रकट नहीं किया गया। 'नाश' के साथ गांधीवादी अभिप्राय सम्बद्ध हुआ : नाश, नवनिर्माण के लिए : क्रान्ति 'सत्य' की प्रतिष्ठा के लिए।

सबसे पहले राष्ट्रीय चेतना को और दृढ़ करने की चेष्टा मिलती है। सनेही जी के अनुसार स्वाभिमान-हीन मनुष्य मृत है। अपने देश का अभिमान जीवन की सबसे महत्वपूर्ण भावना है—

> ज़िसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
> वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है।।

इस प्रकार के प्रबोध स्वर अत्यन्त प्रखर होते गए। कवि ने अपने जीवन का प्रमाण दिया। प्रमाण-बलि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। देश के गौरव के लिए जीवन का उत्सर्ग करना ही तो जीवन है—

> बलि होने की परवाह नहीं
> मैं हूं कष्टों का राज्य रहे।
> मैं जीता जीता जीता हूं,
> माता के हाथ स्वराज्य रहे।।
>
> —माखन लाल चतुर्वेदी : हिमकिरीटिनी।

प्रगतिगीत अब अकेले हिन्दू या अकेले मुसलमान का नहीं होगा। दोनों का समवेत स्वर ही शक्तिवाहक बन सकता है—

> कह दो हर हर मार ! या अल्ला अल्ला बोल दो।
>
> —सनेही।

आज कवि को अपनी वाणी का नवीन सधान करना है। उसे रक्त, आग, नाश, से अपनी वाणी को सजाना है। पाप-पुण्य की परिभाषा बदलनी है। सारी प्रलयकालीन हल चल को पकड़ कर अपने शब्दों में उसे भर देना है। आंसुओं की वृष्टि रक्त-वृष्टि बना देनी है। समस्त मूढ़ और अप्रगतिशील विचारों का विनाश

ही कवि का धर्म है। बालकृष्ण शर्मा नवीन ने कवि को यह सब करने के लिए ललकारा—

> कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।
> एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।
> प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।।
> नाश और सत्यानाशों का, धुआंधार जग में छा जाये।

दूसरी ओर सुभद्रा कुमारी चौहान का स्वर सुनाई पड़ रहा है—

> सुनूंगी माता की आवाज, रहूंगी मरने को तैयार।
> कभी भी उस वेदी पर देव, न होने दूंगी अत्याचार।
> न होने दूंगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊं बलिदान।
> मातृ मन्दिर में हुई पुकार, चढ़ा दो मुझको हे भगवान्।

इस प्रकार तृतीय उन्मेष राष्ट्रीयता की भावना प्रखर हुई। बलिदान की गरिमा बढ़ी है और क्रांति भड़की है। इस बेला में सुदूर अतीत तक जाने का अवकाश नहीं है। उन वीरों और शहीदों की यादें उद्दीपन के रूप में आने लगीं, जिन्होंने अभी-अभी स्वतन्त्रता के संग्राम में अपने प्राणों का बलिदान किया है: सङ्कट झेले गये हैं। जिनकी यादें प्रेरणा देती रही वे आत्माएं ये हैं: 'प्रताप, शिवाजी, लक्ष्मी बाई, तात्या, बिस्मिल, अशफाक उल्लाह, भगतसिंह, चन्द्र शेखर आजाद, गणेश शङ्कर विद्यार्थी आदि। इनमे से बहुतों ने क्रांति का झण्डा भी ऊंचा किया। इन क्रांतिकारियों के उष्ण रक्त ने आजादी के पादप को सींचा—आ उसके लिए भूमि तैयार की। इन शहीदों ने गांधीवादी आन्दोलन से पृथक् भी राष्ट्रीय कार्यवाहियां की। और इतिहास गांधी जी के सफलता की भूमिका में इन शहीदों के रक्तदान को भुलाने का अपराध नहीं कर सकता। जयशङ्कर प्रसाद ने 'महाराणा का महत्व' लिखा। मिलिन्द ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक लिखा। वृन्दावन लाल वर्मा ने 'झांसी की रानी लक्ष्मी बाई' उपन्यास लिखा। लाला भगवानदीन का 'वीरपचरत्न' भी उल्लेखनीय है इस प्रकार शहीदों की स्मृतियों ने राष्ट्रीय-रस का उद्दीपन किया।

नवीन जी का विध्वंस का स्वर आगे दिनकर की वाणी मे और भी पनपा। हरिजन, किसान, श्रमिक-सभी पर अनेक कवियो ने कविताएं रची। निराला, पंत, भगवतीचरण, अंचल ने इनके सम्बन्ध मे क्रान्तिकारी गीत लिखे। वस्तुतः यह वृहत्तर राष्ट्रीय भावना से सम्बद्ध हैं। 'लघु' मानव की स्थापना का प्रयत्न राष्ट्रीय उत्थान के युग मे होना ही चाहिए। दिनकर मजदूर और किसानो का पक्ष कितने

आग्रह से ग्रहण करते हैं—

"देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे, हृदय शोणित की धारें।
और उठी जाती उन पर ही, वैभव की ऊंची दीवारें॥
आहें उठीं दान कृषकों की, मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी, गरीबों के लोहू पर, खड़ी हुई तेरी दीवारें॥
वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक मेघ की रानी दिल्ली।"

· हुङ्कार।

इस प्रकार आजादी के बाद इस राष्ट्रीयता का भाव कृषक और श्रमिक के प्रति सहानुभूति में बदल गया। एक ओर शुद्ध मानवतावाद रह गया। दूसरी ओर मजदूर और किसानों की समस्याओं का मार्क्सवादी दृष्टि से देखने वाला प्रगतिवाद।

काव्य ने इस प्रकार स्वर का वहन बड़ी ईमानदारी और सरलता से किया। भारतेन्दु के नाटकों ने देश के कटु यथार्थ को रङ्गमञ्च पर उतारा। प्रसाद जी के नाटकों ने अतीत के गौरवपूर्ण पृष्ठों को नाटक बनाया. वर्तमान राष्ट्रीयता का उसमें रङ्ग भरा और अपने कवि-कर्म को शुद्ध छायावादी होने से बचा लिया। प्रसाद जी के नाटकों में 'हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से', 'हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' और 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे अमर राष्ट्रीय गीतों की गूंज है। उनके सभी पात्र किसी-न-किसी रूप में राष्ट्रीय भावना को अपनाए चलते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में सिकन्दर की पराजय समस्त पश्चिम की पराजय है—पराजय जो विजय के रूप में पहले प्रकट हुई थी। समस्त नाटकों का वातावरण राष्ट्रीयता से सयुक्त है। राष्ट्रीयता को आदर्श मानवतावाद से भी प्रसाद जी ने नाटकों में सजाया है। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटक भी इस दृष्टि से पीछे नहीं हैं। 'शिवा साधना' में शिवाजी का कथन देखिए : 'मेरे शेष जीवन की एक मात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊंच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अन्त करना, राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की क्रान्ति करना।' सेठ गोविन्द दास के नाटकों में राष्ट्रीयता और भी सुस्पष्ट है। वे तो स्वयं आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने वाले हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी रास्ता छोड़ा; आग्रह राष्ट्रीय था : और 'मृत्युञ्जय गांधी', 'शङ्कराचार्य' आदि नाटक लिखे। इनमें राष्ट्रीय दृष्टि ही मिलती है। इस प्रकार हिन्दी की नाट्य परम्परा ने भी राष्ट्र-देवता का अजस्र अभिषेक किया।

नाटकों में राष्ट्रीयता बहुधा ऐतिहासिक कथानकों और पात्रों के द्वारा व्यक्त हुई है। इन नाटकों ने ऐतिहासिक चरित्रों का भी परिष्कार किया। बहुत से विदेशी लेखकों ने हमारे इतिहास के अनेक नायकों का रूप बिगाड़ दिया था। प्रसाद जी ने

अपनी समस्त शक्ति लगा कर ऐसे राष्ट्रीय पात्रों और घटनाओं को अपने निजी स्रोतों के आधार पर पुनर्प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार अन्य नाटककारों ने भी पात्रों को नवीन राष्ट्रवाद के संकेतों के द्वारा नवजीवन प्रदान किया। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से हिन्दी की नाटक-परम्परा भी महत्वपूर्ण है।

इतना निश्चित है कि राष्ट्रीय भावों में निमग्न साहित्य शैली और शिल्प की बारीकियों की चिन्ता नहीं करता। अभिधा शक्ति को ही विभिन्न छवियों को उभार दिया जाता है। भारतेन्दुकालीन कवि व्यंग्य के सहारे शैली को प्रभावात्मक बनाते थे। राष्ट्रीय-साहित्य में जब आदर्शवाद और मानववाद प्रतिष्ठापित हुए तब शैली, शिल्प और काव्य रूप में विकास हुआ। अतीत के चरित्रों के साथ विभिन्न मानवीय भाव भी थे जो कोरे आदर्शवाद को रागात्मक बनाते थे। मुक्तकों के अतिरिक्त इस युग में प्रबन्ध-काव्यों की भी रचना हुई।

राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हुआ। स्वतंत्रता मिली। राष्ट्रीय भावधारा अपने लक्ष्य पर पहुंच कर कुछ झिझकी, ठिठकी। उसके सामने सफलता का स्वर्ण-विहान था। जो राष्ट्रीय कवि थे, उनमें से कुछ चल बसे। कुछ ने सम्मान पाया—राजकीय। अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हुए। जो बच रहे उन्होंने दिशा-परिवर्तन किया। उनके सामने स्वराज्य तो था, पर सुराज्य नहीं हो पाया। जनता की दशा बहुत अच्छी नहीं हो पाई। नेताओं में क्षतिपूरक प्रवृत्ति जाग उठी—सभी में नहीं। नई समस्याएं उत्पन्न हुईं। इन समस्याओं पर लेखनी चलने लगी। राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बद्ध होने के कारण ऐसा काव्य वृहत्तर राष्ट्रीय काव्य के अन्तर्गत आ जाता है। नवीन यथार्थ, नवीन भाव-बोध और नवीन सौन्दर्य-बोध ने 'प्रयोग' को और आर्थिक समस्याओं ने 'प्रगति' को प्रोत्साहन दिया। दिनकर जैसे कवि जनता का पक्ष लेकर सामने आए। उन्होंने प्रयोग का मार्ग भी नहीं पकड़ा और न प्रगति का—'युगचारण' जो ठहरा। फिर चीन की समस्या आ खड़ी हुई: और पीछे छूटी हुई राष्ट्रीय काव्यधारा फिर से स्वर-संधान करने लगी। चीन के आक्रमण के समय हिन्दी के कवियों ने बड़ी ही ओजपूर्ण कविताएं लिखीं। इस राष्ट्रीय काव्य में नवीन भंगिमाओं और नवीन छवियों का आलोक मिलता है। पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ इनके साक्षी हैं।

२.३ स्वच्छंदता

यूरोप में सुधार, नवजागरण और पुनरुत्थान के बाद स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति का प्रवेश हुआ। भारत में जो परिस्थियां थी, उनमें दूसरे चरण के रूप में राष्ट्रीयता और तीसरे चरण के रूप में स्वच्छंदता का विन्यास हुआ। हिन्दी में छायावाद इसी के ग्रहण और रूपांतरण से संबंधित है। सुधारवाद धर्म और सामाजिक संस्थाओं को विमुक्ति और शुद्धि का अभियान लेकर तो चलता रहा, किंतु व्यक्ति और व्यक्ति मन पर जो परंपरागत वर्जनाएँ चली आ रही थी, उनकी ओर उसने ध्यान नहीं दिया। बल्कि यह हुआ कि सुधारवाद ने जिस आरोपित नैतिकता और अनुशासन को जन्म दिया वह व्यक्तिमन के ऊपर बोझ बनता चला गया। उसमें दमन जन्य कुण्ठा और घुटन की कड़वाहट घुलती चली गयी।

इस युग का केन्द्रीय शब्द विमुक्ति है। हर प्रकार के बंधनों से समाज और चेतना को मुक्त करने की बेचैन कोशिशें हर स्तर पर चली। स्वच्छंदतावादी आंदोलन व्यक्ति-मन और तत्सम्बन्धी साहित्य की विमुक्ति का ही आन्दोलन है।[1] यदि संक्षेप में भारत में स्वच्छन्दतावाद के उदय की परिस्थितियों को कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इसकी पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय आन्दोलनों की पराजयों की पस्ती थी : एक सीमा तक औद्योगिक विकास होते हुए भी आर्थिक संकट था : पश्चिम के प्रभाव और उसकी प्रेरणा से नवोदित सांस्कृतिक चेतना थी : पश्चिम की सभ्यता के प्रभाव के बावजूद भी सुधारवादी तथा आदर्शवादी दृष्टि से बना हुआ सामाजिक वातावरण था। इन विरोधाभासों से एक असन्तोष जन्म ले रहा था जो विमुक्ति की खोज में था। चाहे जीवन की अनिश्चतता और साधनहीनता के कारण छायावादी कवि कल्पना जीवी

---

1. Romanticism, badly defined so many times, when all is said and done is only-and here is its real definition, if you view Romanticism from its militant side—liberation in literature"
—Victor Hugo.

ग्रौर एक सीमा तक पलायन करने वाला हो गया हो फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह समाज के घटना चक्र से बिलकुल बेखबर था। जहां छायावादी कवि अन्तर्मुख संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देता रहा वहां समय समय पर राष्ट्रीय भावना या सामाजिक चेतना को भी स्वर देता रहा। उदाहरण के लिए निराला के 'महाराज शिवाजी का पत्र' तथा 'जागो फिर एकबार' (1921) जैसी कविताओं को लिया जा सकता है। प्रसाद की 'लहर' ग्रौर 'कानन कुसुम' की अनेक कविताओं में राष्ट्रीय भावना ही मुखर हुई है। इन्हीं प्रवृत्तियों के बीच मुक्तिकामी अहं का विस्फोट भी होता रहा।

एक बहस अक्सर छिड़ जाती है कि हिन्दी की छायावादी काव्य-धारा पूरी तरह से विदेशों से आयात है या वह अपनी ही परस्थितियों से पैदा हुई आधुनिक प्रवृत्ति है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजी की रोमांटिक कविता का ग्रहण भी हुआ किन्तु इस को भी नकारा नहीं किया जा सकता कि छायावाद-"मात्र विदेशी प्रभाव या बाह्य अनुकरण से उद्‌बुद्ध न होकर हिन्दू नवोत्थान ग्रौर देश के व्यापक आन्दोलन'[1] से जुड़ा हुआ है। यह बात भी मान लेनी चाहिए कि वाद बनने से पहले रोमांटिक प्रवृत्ति पश्चिम में भी मौजूद थी। ब्लेक, वर्डसवर्थ, कालरिज, बायरन, शेली तथा कीट्स से पहले कूपर, ग्रे, कॉलिन्स, बर्न्स आदि कवियों की रचनाओं में रोमांटिक प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है। इसी प्रकार हिन्दी छायावादी कवियों से पहले इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। "यद्यपि यह एक अतिवादी दृष्टिकोण है कि द्विवेदी युग के पूर्व रीतिकाल के अंतिम चरण में ही छायावाद का स्वर निकल चुका था, तथापि इतना कहना एक सतुलित सत्य है कि स्वच्छंद भाव-धारा की दृष्टि से घनानंद ग्रौर श्रीधर पाठक ही हिन्दी कविता की परम्परा में छायावाद के पूर्व पुरुष सिद्ध होते हैं।"[2] संक्षेप में यह कहा जा सकता कि यह कहना एक भ्रांति है कि छायावाद ग्रौर यूरोप का रोमांटिक काव्य संप्रदाय अभिन्न है। दोनों के हृदय की परिस्थितियां बिलकुल भिन्न हैं।

"....छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश ग्रौर काल की सृष्टि है। जहां छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहा रोमांटिक काव्य के पीछे सफल विद्रोह था जिसमें जनता को विजयनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहा की रोमानी कविता का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित ग्रौर ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा ग्रौर स्वप्न अधिक निश्चित ग्रौर स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद

1. डा. कुमार विमल, छायावाद का सौंदर्य शास्त्रीय अध्ययन, (नई दिल्ली 1970) पृ 23.
2. डा. कुमार विमल, छायावाद का सौंदर्य शास्त्रीय अध्ययन, पृ 24.

की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अंतर्मुखी एवं वायवी था।"[1] इतना अवश्य है कि छायावद पर रोमांटिक काव्य का प्रभाव था।[2] अपने समय के प्रति न विदेशों में ही रोमांटिक कविता बेखबर रही[3] और न छायावादी कविता ही।

तो हम यह मानकर चल सकते हैं कि आधुनिकता के एक चरण के रूप में जो रोमांटिक काव्य पश्चिम में विकसित हुआ वह अपनी परिस्थितियों की देन है। इसी प्रकार छायावादी काव्य भी अपनी जमीन से पैदा हुआ और आधुनिकता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण चरण के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

छायावादी काव्यधारा पर दूर से दृष्टिपात करने पर ऐसा लगता है जैसे एक मनोरम स्वप्नलोक है। यहां स्वप्नों की छाया में जीवन के क्षण पलते हैं। सौन्दर्य की तितलियां इन्द्र धनुष से होड़ लेती है। कवि की तरल कल्पनाएं परीलोक से आमंत्रण पाकर उधर ही उडी जा रही हैं—उडी जा रही हैं। सव्रीड़ कविता कामिनी, किरण जाल सी झिलमिल, मधु-श्लथ, सौन्दर्य-विकल, शिल्प के ताजमहल मे निवसित, रूप-सुरूप के सर्-सर् उपवनों मे विलसित, अनेक लाक्षणिक संकेतों में मुखर है। समस्त वातावरण जैसे मदिरा की मन्द-मन्द मादकता में अर्द्धनिमीलित है। लगता है कि यह लोक स्वर्गंगा के किरणोज्ज्वल कछारो में झूल रहा है। यदि किसी छायावादी से उसके लोक का परिचय पूछा जाता तो शायद वह कुछ ऐसी ही शैली में अपने लोक का परिचय देता।

प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा और कुछ अन्य तथा कथित कवि एक भीड़। सभी निराश प्रेमी, सभी यूनीवर्सिटी और कॉलिजों के क्षुब्ध और रूप के जादू से लुब्ध-मुग्ध विद्यार्थी, नव युवक, नव युवतियां इस युग में अपने एकान्त क्षणों मे छायावादी पथ पर दो चार कदम अवश्य चले होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है जैसे फ्रायड की प्रयोगशाला के द्वार पर एक लम्बा क्यू लगा हुआ हो—सभी अपने अन्तर्मन की कुछ विकृतियो से संत्रस्त। फ्रायड ने सभी को व्यक्तिगत रूप से कुछ नही बतलाया। सभी की व्याधि के एक ही लक्षण और उसके लिए एक ही निदान है। उसने विश्लेपण किया: अवचेतन तुम्हारे चेतन के नीचे उद्वेलित है। दमित इच्छाओ के अंकुर कुचले हुए पडे हैं—कितना करुण है यह दमित इच्छाओ का जगत्। सभी अपना सर उठाती हैं। विभिन्न व्यापार-व्यवहार मे अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं। प्रतीकों की योजना इनको छद्मवेश देता है। उधर 'स्वप्न' बना : इधर कविता बनी। ग्रंथियां जटिल हुई : चेतन-अचेतन का

1. डा. नगेन्द्र, आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, (नई दिल्ली, 1974) पृ. 20.
2. डा. देवराज, छायावाद का पतन (छपरा, 1948), पृ 21
3. T. E. Hulme, Speculations, Ed. Herbert Raed (London, 1936) p. 115.

संघर्ष तीव्र हुआ । प्रतीक शिल्प में यह जटिलता प्रतिच्छायित है । वर्जनों से भरे बाह्य जगत् से, इसके ठोस यथार्थ से इन्हें विरुचि है । भीतर के किसी राग-केन्द्र पर इसकी समस्त चेतना सिमटती जा रही है । फ्रायड ने कुछ ऐसा ही निर्णय दिया । अपनी दुर्दम वासनाओं को रूपायित करने की प्रेरणा भी कहीं यहीं छिपी है । इस कवि के व्यक्तित्व में सारी तड़क-भड़क ऊपरी है, सब छद्म है । इसका मन व्याधि-ग्रस्त है, रुग्ण है । कवि ने शायद पहली बार समझा सामान्य वस्तु जगत् की अपेक्षा एक विशेष सत्ता और शक्ति वाला संसार भी है—अचेतन मन का संसार । यह यथार्थ ही नहीं, 'अति यथार्थ', अब 'रियलिस्ट' । यही जगत् कवि की प्रेरणा और साधना का रहस्य अपने में छिपाये है । कवि कुछ क्लान्त और विच्छिन्न सा जो प्रतीत होता है, वह अन्तर्द्वन्द्व के कारण । साहित्य के अनेक वाद इस व्याख्या को लेकर चले-क्लैसिसिज्म, रोमैन्टिसिज्म, रियेलिज्म और एक एस्केपिज्म । इस बौद्धिक चेतना और जागरुकता के युग में मनोविज्ञान के इस सम्प्रदाय ने कहा : बुद्धिवाद से परे हमारा चेतन अह है । मानव जीवन के यथार्थ स्रोत तो बुद्धि से परे है । बुद्धि तो काम शक्ति का एक व्यावहारिक उपकरण मात्र है । कभी एक दार्शनिक ने बुद्धि से परे किसी पारलौकिक सत्ता की ओर संकेत किया था और मनुष्य के समस्त क्रिया-व्यापार को उससे यंत्रवत् परिचालित माना था । आज इस मनो-विश्लेषणवादी ने भी एक अन्तर्गुहा की ओर संकेत किया जो निबिड़ अन्धकार से आवृत्त है और यही कही मनुष्य की संचालिका शक्ति है, उसका बोध मानव की बुद्धि से परे है ।

फिर छायावादी कवि ने अपने रोग निर्णय के लिए डा० कार्लजुंग के दर-वाजे पर दस्तक दी । दरवाजा खुला । जुंग के कमरे में व्यक्तित्व विश्लेषण का एक चार्ट लगा था । उसकी रूपरेखा इस प्रकार है :

व्यक्तित्व
- —इन्ट्रोवर्ट : अन्तर्मुख—
- —एक्स्ट्रोवर्ट : बहिर्मुख—
  - अन्तर्ज्ञान शील : इन्ट्यूटिव टाइप
  - विचारशील : थिंकिंग टाइप
  - भावना शील : फीलिंग टाइप
  - प्रवृत्ति शील : इन्स्टिंक्टिव टाइप

व्यक्तित्व के ये ही प्रकार हैं । इस चार्ट को देखकर छायावादी कवि ने अपने भीतर झांका । उसकी समझ में अपनी स्थिति कुछ-कुछ आई । वह समझ गया, मैं कहां हूं । पर उसने समझा कि उपन्यास या नाटक चरित्र-चित्रण को इससे अधिक सुविधा-पूर्वक समझा जा सकता है । अभी छायावादी कवि की अचेतन और स्वप्न सिद्धान्तों से अभिभूत था । उसने अचेतन के सम्बन्ध में भी जुंग से एक बात सुनी । अचेतन के दो स्तर हैं : एक वैयक्तिक अचेतन और दूसरा सामूहिक अचेतन । सामूहिक अचेतन में

पुरातन सभ्यता के आदिकाल की अनुभूतियां संचित रहती है। इनका प्रक्षेपण अनेक प्रतीकों और जागतिक उपकरणो पर होता है। कवि की समझ में कुछ आया। पर जैसे अभी वह यही सोच रहा हो कि मेरी प्रेरणा तो सम्भवत: वैयक्तिक अचेतन मे है। साधना की अनेक स्थितियों मे सामूहिक अचेतन भी प्रतीकोपकरण लिए खड़ा अवश्य रहता है। सामूहिक अचेतन की अनुभूतियों को वैयक्तिक परिवेश में ही ग्रहण किया जाता है। हैवलॉक एलिस और जुंग के अनुयायियों ने काम ग्रंथि का स्पष्ट विश्लेषण किया। इसने कवि को काम की घुटनों को स्पष्ट स्वर देने की प्रेरणा दी। काम-वृत्तियों की कलात्मक अभिव्यक्ति देने की जो परम्परा संसार में बनी; छायावादी कवि भी इस परम्परा से असम्बद्ध नहीं है। यहां समस्त मनोवैज्ञानिक वादों पर विचार करना आवश्यक नही। केवल यह स्पष्ट किया गया है कि मनोविज्ञान ने व्यक्ति-मन का जो विश्लेषण इस युग में प्रस्तुत किया है; उससे छायावादी कवि का कर्म भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ।

इन सिद्धान्तो के साहित्यीकरण के लिए एक परिवेश की आवश्यकता होती है। परिवेश तो पुराने समय से ही प्राप्त था, पर इस युग मे मनोवैज्ञानिक खोजों ने इनको देखने और विश्लेषण करने की दृष्टि प्रदान की। साथ ही वर्जनों में क्रूर रूपों और सामाजिक शक्तियो के सामने अपनी विवशताओं को सोचा और समझा। परिवेश और अनुभूतियों ने जिस विशिष्ट व्यक्तित्व को जन्म दिया, उसी प्रकार का व्यक्तित्व लगभग छायावाद के कवि का था। एक ओर वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्यास और प्रेरणा है, दूसरी ओर पुरानी रूढ़ियों से ग्रस्त समाज है। जागरण की किरणों का उदय है, पर कवि खुल कर उनका स्वागत नहीं कर सकता। इसी विडम्बना की कटुता छायावादी कवि के सभी चेतन केन्द्रों मे भर गई और घुटन, कुण्ठा, दमन !

यह प्रश्न भी स्वाभाविक है। छायावाद की स्थिति समसामयिक होते हुए भी, इस प्रश्न पर सभी एकमत नही है। एक परिसवाद चला,[1] उसका साराश यों है:—

सियारामशरण गुप्त—[*शुक्लजी को आधार बनाते हुए*]—*मैथिलीशरण* गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को ही हिन्दी कविता की नई धारा (छायावाद) का प्रवर्त्तक मानना चाहिए। प्रमुख छायावादी कवियों ने अपनी कविता प्रारम्भ में हरिगीतिका के स्वरो में मुखरित की है।

1. अवन्तिका, जनवरी, 1954

विनयमोहन शर्मा
प्रभाकर माचवे]—माखन लाल चतुर्वेदी की 1911–13 की रचनाओं में नवीन शैली के दर्शन होते हैं। वे ही छायावाद के सबसे पहले कवि माने जाने चाहिए।

नन्ददुलारे वाजपेयी—[समवन्य के स्वरों में]—1913–1920 के बीच की रचनाओं में स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रवृत्ति मिलती है। इसी में छायावादी विशिष्ट शैली के बीज कही है। मुकुटधर पाण्डेय, रामकृष्णदास और प्रसाद मे छायावाद की प्रयोगावस्था के चिह्न देखते हैं। छायावाद की राष्ट्रीय शाखा का उद्भव और उन्मेष माखन लाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाओं में मिलता है। मेरे विचार से निराला छायावादी शैली की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी भावधारा के अधिक निकट हैं।

इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद या छायावाद का संबंध एक ओर तो द्विवेदी युगीन सुधारवादी काव्यधारा से जोड़ा गया तो दूसरी ओर उसको रोमासवादी राष्ट्रीयता से जोडकर देखा गया। एक ओर उसको पश्चिम से आगत सिद्धान्त के रूप में देखा गया तो दूसरी ओर भारतीय स्रोतों में उसके मूल खोजे गये। तात्पर्य यह है कि आधुनिकता के पहले दोनों चरणों से उसे जोड़कर देखा गया। गुप्त जी से छायावादी कविता का दूर का भी सम्बन्ध नही था। उनका व्यक्ति, उनकी प्रकृति और उनका आदर्श कभी छायावाद के अनुकूल नही था। उनके संस्कारों के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। यदि उनके कुछ गीतो मे वैयक्तिक अनुभूति मिलती भी है, तो वह एक परम्परा बनाने में समर्थ नही। साथ ही प्रत्येक वैयक्तिक गीत-परम्परा छायावादी नही है। अधिक से अधिक गुप्त जी के गीतो मे कुछ रहस्य-वादी दार्शनिकता देखी जा सकती है। माखनलाल चतुर्वेदी मे कहीं-कहीं अवश्य छायावादी शिल्प की झांकी मिलती है, पर वे व्यक्तित्व से 'एक भारतीय आत्मा' हैं। छायावादी जीवन दर्शन को उन्होने न तो स्वीकार किया और न उसकी उन्होंने व्याख्या ही की छायावादी कवियों ने अपनी कृतियों की भूमिकाओ मे अपने दृष्टि-कोण को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। प्रसाद जी ने सर्व प्रथम छायावाद के जीवन-दर्शन की स्थापना की। केवल उन आलोचको को ही उत्तर नही दिया जो इस धारा को शुद्ध विदेशी नकल मानते थे, अपितु भारतीय स्रोतों से इस जीवन-दर्शन को पुष्ट किया। इसलिए प्रसाद जी को ही छायावाद का प्रवर्त्तक मानना सुविधाजनक रहता है। किसी व्यक्ति को इसके प्रवर्त्तन का श्रेय देना कोई महत्त्वपूर्ण बात नही। वास्तव मे

इस प्रवृत्ति का प्रवर्तन एक नवोदित विचारधारा ने किया। इस विचारधारा का वहन उस समय के मध्यवित्तीय शिक्षित मस्तिक ने किया। मध्यवर्गीय नवयुवक अपनी समस्त जागृतियो और कुंठाओं को लेकर इस धारा का प्रचलन कर रहा है। कुंठा ने उसे विवश कर दिया है और इस विवशता ने बौद्धिक जागरूकता और वैज्ञानिक विश्लेषण से काट दिया है। वह अन्तर्नाद-युक्त अन्तर्मुख और रहस्यावृत्त गीतों के चित्र-विधान मे लग जाता है। इस प्रवृत्ति ने अपने समय में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की।

शायद इस पर कुछ पहले ही लिखा जाना चाहिए था। द्विवेदी युगीन आदर्श-वादी, आदर्श मानववादी, या नैतिकता के निरपेक्ष मानव मूल्यों के लिए आलोचक छायावाद को स्वीकृति नहीं दे रहे थे। पुरानी अभिरुचि का किसी नवीन विधा से समझौता करना इतना आसान होता भी नहीं है। रूढ़ और बद्ध अभिरुचि को गति-शील होने के लिए कुछ समय चाहिए। उन्होने ही सम्भवतः इसे छायावाद नाम से पुकारा। इसमे सम्भवतः यह व्यंग्य था कि सत्य के कठोर रूप से विमुख कवि सत्य के अचेतन पर पड़े प्रतिवैयक्तिक छायाभास को लेकर चल रहा है। न उसका कोई आदर्श और न कोई स्वस्थ जीवन-दृष्टि। 'छायावाद' नाम छायावादियो को अधिक पसन्द नही नही आया,। पतजी ने इस सम्बन्ध मे एक स्पष्टोक्ति भी की : 'छायावाद नाम से मैं संतुष्ट नही हूं। यह तो द्विवेदी युग के आलोचको के द्वारा नई कविता के उपहास का सूचक है।'[1] 'छाया' तो अस्पष्ट होती ही है : 'वाद' भी एक भयङ्कर शब्द है। साहित्य में आकर यह एक सम्प्रदाय या पूर्वाग्रह का वाचक हो जाता है। इसमे 'छाया' को फँसाकर द्विवेदी युगीन आलोचक खिलखिला उठा।

ऐतिहासिक दृष्टि मे यह द्विवेदी युगीन प्रवृत्तियों की एक प्रतिक्रिया है। कुछ लोग छायावाद को रीतिकाल की भी प्रतिक्रिया मानते हैं। पर रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ को तो भारतेन्दु-युग ने ही ललकार दिया था। ललकार ही नही दिया था, उन्हें समाप्त करके एक नवीन युग का निनाद भी कर लिया था। विषय-बोध और शिल्प-विधि दोनों ही रीतिकाल से भिन्न हो गए थे। राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति, गद्य का विकास और ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग, ये प्रतिक्रिया-सूत्र रीति-काल को साहित्यक संग्राहलय की वस्तु बना देने को पर्याप्त थे। भारतेन्दु-युग के ये प्रतिक्रिया-सूत्र द्विवेदी युग मे व्यापक बने। राष्ट्रीयता के साथ आदर्श मानववाद या मानवतावाद स्थापित हुए। भाषा का व्याकरणिक दृष्टि से, नवीन यथार्थताओं और भावबोधों के अनुसार परिष्कार हुआ। अब प्रत्यक्षतः ही धर्म पर द्विवेदी युगीन समीक्षा के मानदण्ड में व्यक्ति का अपना और [illegible] स्थान सम्भवतः [illegible]

1. अवन्तिका, जनवरी, 54

रह जाते हैं। 'अहं' की उपेक्षा करके एक व्यापक, अखण्ड आदर्श की स्थापना से जीवन का नवीन यथार्थ क्षुब्ध हो गया। राजनैतिक दृष्टि से, गांधी ने जो आदर्श बनाया था, प्रायः वही द्विवेदी युगीन इतिवृत्तों का उपजीव्य बन गया। पर राष्ट्रीय चेतना के साथ मानवमात्र का भावबोध भी सजग होने लगा था। 'व्यक्ति' बनाम 'समाज' संघर्ष भी विविध दार्शनिक विचारणाओं से अपने पक्ष-समर्थन में लगा था। इस प्रकार के वातावरण में प्रतिक्रिया जगनी ही है। वस्तुतः द्विवेदी युगीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध छायावाद एक प्रतियथार्थवादी प्रतिक्रिया है। इसने द्विवेदी युगीन आदर्श से सम्बन्धित 'इतिवृत्त' को हिला दिया। 'इतिवृत्त' पर जो नवीन जीवन दृष्टियों के कुछ टुकड़े चिपका दिए गए थे, वे झर गये।

यदि 'इतिवृत्त' का 'कामायनी' या 'तुलसीदास' के रूप में छायावादी प्रवतार हुआ भी तो यथार्थ से निरपेक्ष आदर्शों से यह मुक्त हो चुका था। मनुष्य की रागसत्ता या चेतन के चिर विकासशील आयाम इनकी घटनावली को छोटा करके आ बैठे। इस प्रकार छायावाद ने सच्चे अर्थ में द्विवेदी युग के प्रति प्रतिक्रिया की। द्विवेदी युगीन आलोचकों को भी प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ा।

शुक्लजी ने छायावाद की नवीन शैली को देखकर एक आकर्षण का अनुभव सम्भवतः किया था। इसकी अभिव्यंजना शैली अनेक सम्भावनाओं से गर्भित थी। अतः उनकी प्रथम प्रतिक्रिया छायावाद की नूतन अभिव्यंजना के विवर्त के रूप में देखने की हुई। साथ ही उन्होंने कुछ आध्यात्मिक सूत्रों की कल्पना का आभास भी छायावाद में पाया। उन्होंने इन दोनों दृष्टियों से छायावाद का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया : "रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती है जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' कहते थे। इसी से बंगाल में ब्राह्म समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे।"[1] इस प्रकार शुक्लजी ने 'तुरीय' अवस्था के द्वारा अवचेतन के समकक्ष कविमन को रखा। आधुनिक शब्दावली का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। इसमें भी सन्देह नहीं कि छायावादी गीतों की प्रतीक-योजना और अभिव्यंजना सामग्री आध्यात्मिक छाया से आविष्ट है। अभिव्यंजना का आवेश-पक्ष इसी सामग्री के बल समृद्ध है। शुक्लजी ने दोनों ही तत्वों को समझा। उनका मत यह नहीं था कि इस कविता का केन्द्रीय स्पन्दन ही आध्यात्मिक है। उन्होंने शैली के इस पक्ष को भी उभार दिया। महादेवी वर्मा ने इस विधा में सर्वात्मवादी दर्शन पाया : 'छायावाद का मूल

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास।

दर्शन सर्वात्मवाद में है।' इस प्रकार आगे के कुछ लेखकों ने एक दार्शनिक प्रेरणा को स्वीकार करना प्रारम्भ किया। किसी-किसी ने अज्ञात सत्ता की प्रकृतिगत छाया से इस विधा का सम्बन्ध जोड़ दिया और इसको रहस्यादी- आवरण प्रदान किया : 'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झांकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है।'[1] डा॰ गुलाबराय ने भी इसमें एकात्मवादी दर्शन पाया; "छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बतला कर एक एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं।"[2] बाबूजी ने आध्यात्मिक दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद को समान कर दिया। इससे आगे दोनों को एक समझने का भ्रम फैला। वास्तव में रहस्यवाद आध्यात्मिक अनुभूतियों की छवियों से उद्रिक्त है। छायावाद में ऐसी कोई पृष्ठभूमि स्पष्ट नहीं है। वाजपेयी ज़रा सम्हल गए। उन्होंने आध्यामिक पक्ष का निराकरण तो नहीं किया, शायद वे समझते थे कि आध्यात्मिक पक्ष से विच्छिन्न होकर छायावाद की आधार-भूमि कुछ दुर्बल पड़ जाएगी। इसीलिए उन्होंने नपे-तुले शब्दों में कहा : "नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"[3] यदि वाजपेयी जी "एक आध्यात्मिक पक्ष भी है" लिखते तो उनकी विचार सरणि अधिक स्पष्ट होती। वास्तव में आध्यात्मिक पक्ष तो है, पर केवल प्रतीक-विधान में।

प्रसाद जी ने छायावाद का तत्वान्वेषण इस प्रकार किया है : 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।'[4] प्रसाद जी की परिभाषा में ये तत्त्व हैं : (1) प्रतिक्रिया का ऐतिहासिक रूप; (2) वेदना; (3) स्वानुभूति। प्रतिक्रिया के ऐतिहासिक रूप पर पहले विचार किया जा चुका है। 'वेदना' महत्त्वपूर्ण तत्व है। इसका धरातल मानसिक है। बाह्य परिस्थितियों के परिज्ञान और आन्तरिक जीवन की राग-संकुल स्थिति में जब सामञ्जस्य घटित नहीं होता, तो एक विकर्षण और घुटन की स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें बाह्य परिस्थियों के विश्लेषण के बौद्धिक व्यापार से विरत होकर कवि अन्तर्व्यापी असन्तोष को अनुभूति का विषय बनाता है। इसी असन्तोष की अन्तर्मुख प्रक्रिया 'वेदना' होती है। अनुभूति के साथ जुड़ा हुआ 'स्व' वैयक्तिकता की ओर संकेत करता है। इस प्रकार छायावाद का आध्यात्म-निरपेक्ष

---

1. गंगाप्रसाद पाण्डेय : 'छायावाद रहस्यवाद' पृ. 24
2. काव्य के रूप पृ. 127
3. आधुनिक साहित्य, पृ. 318
4. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध। पृ. 153

विश्लेषण प्रसाद ने स्पष्ट किया। डा. नगेन्द्र ने अन्त में बड़े बल के साथ छायावाद के साथ मानी जाने वाली आध्यात्म प्रेरणा का आमूल निषेध कर दिया : "कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है—यह मानना भ्रान्ति होगी।"[1] इसके स्वरूप को नगेन्द्र जी ने यों व्यक्त किया है : "आज से बीस पच्चीस वर्ष पूर्व युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्मवृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हीं ने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।"[2] इस परिभाषा के तत्त्व बहुत ही स्पष्ट, वैज्ञानिक और तटस्थ हैं।

छायावाद जब ह्रासोन्मुखी होने लगा तब वह आलोचक तिलमिला सकता था कि छायावाद उसकी आँखों के सामने क्या होने लगा है। इसकी शव-परीक्षा भी बड़ी जल्दी ही आरम्भ हो गई। 'प्रयोग' को छायावाद को दबा कर आना था। प्रगति पहले छायावाद का ध्वंस करना चाहती थी। समस्त छायावादी सृष्टि इतनी जल्दी स्पष्ट रूप से वायवी हो जायेगी, यह किसको आशा थी। शव-परीक्षकों ने छायावाद के विरुद्ध ही निर्णय दिए—यह स्वाभाविक था। डा० नगेन्द्र ने समस्त वातावरण देख कर एक स्पष्ट और संक्षिप्त मूल्याङ्कन करके, निष्पक्ष भाव से महान् को महान् और दुर्बल को दुर्बल कहा। यदि आलोचक छायावाद की प्रतिष्ठा की रक्षा का दायित्व समझकर खड्गहस्त हो जाता, तो पूर्वाग्रही या प्रतिक्रियावादी कहा जाता। अतः निष्पक्ष दृष्टि से सार का सूत्राङ्कन कर दिया है जैसे आगे की साहित्य-सृष्टि के साथ युक्त व्यवहार करने को तैयार हो गया है। पर कुछ तत्त्वों पर कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक है।

कवि का अन्तर्मन कुण्ठित है। यह कॉलिज जाने वाले मध्यवित्तीय नवयुवक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। कॉलिज में अंग्रेजी साहित्य भी पढ़ाया जाता था और योरोप के उन्मुक्त प्रेम का वातावरण भी छन-छन कर आ रहा था। फ्रांस एक से एक फैशनेबुल जीवन-रूपों की सृष्टि कर रहा था। फ्रांस फैशन और उन्मुक्त प्रेम का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया। यहां तक कि इस कवि की रहन-सहन और भंगिमा भी उन्हीं तरलताओं से युक्त थी; वस्तुतः जागरण और कुण्ठा के मिश्रण की उपस्थिति हो गई थी।

छायावादी कवियों में दर्शन का संस्कार भी अवश्य था। प्रसाद जी के शैव शास्त्रों के अध्ययन और निराला जी के शाक्त दार्शनिक संस्कारों को अस्वीकृत

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य, भाग 2, छायावाद की परिभाषा।
2. वही, पृ. 65

नहीं किया जा सकता। पंतजी की सौन्दर्य-भावना प्रारम्भ मे दर्शन की छाया से मुक्त रही : यही कारण है कि उनके प्रारम्भिक स्वरों मे एक दार्शनिक जिज्ञासा या या प्रौढ़ कौतूहल नही है। उनमें बाल-सुलभ विस्मय अधिक है। आगे सम्भवतः उसको कुण्ठा की स्थिति मे होकर भी गुजरना पड़ा और अरविन्द दर्शन की हलकी छाया भी कुछ सघन होती गई। महादेवी को दार्शनिक पृष्ठभूमि प्राप्त है ही। वैयक्तिक वेदनानुभूतियां उनके सौन्दर्य बोध के साथ उलझी हुई है किन्तु दार्शनिक पृष्ठभूमि हो चाहे न हो, मानसिक कुण्ठा का तत्त्व सभी आलोचक स्वीकार करते हैं।

कुण्ठा 'प्रकृति' नहीं 'विकृति' है। मानसिक अगति या गतिहीनता के क्षणो का प्रतिनिधित्व कुण्ठा करती है। यह वैयक्तिक स्तर पर क्रान्ति को नही एक अन्त-र्मुख प्रतिक्रिया को जन्म देती है। मन की स्वाभाविक गति कुण्ठा से अभिशप्त होकर जड़ हो जाती है। मार्ग निश्चय का विवेक भी बहुत कुछ कुण्ठित हो जाता है। फलतः व्यक्ति सत्य-समाज-सापेक्षिता में ग्रहण नही किया जाता। जीवन की सापेक्षिता भी छूटने लगती है। इस कुण्ठित मानसिक वातावरण मे जीवन की आस्था तिरोहित होने लगती है और मन शङ्काकुल हो जाता है। कवि का अहम् कुण्ठा के कारण इतना क्षीण हो जाता है कि उसकी सम्पूर्ण स्वीकृति कवि नहीं कर पाता। इस वातावरण मे जो मानसिक क्रियाएं होंगी, वे या तो क्षतिपूरक होंगी अथवा 'आत्मा विस्मृति वाली'! आत्म-विस्मृति और उन्माद एक निर्विघ्न और रङ्गीन कल्पना-लोक या स्वप्न-लोक की रचना करता है। जीवन के यथार्थ और भाव-बोध से विच्छिन्न कवि कल्पना-लोक मे विराम लेना चाहता है। उसकी दृष्टि काल्पनिक आत्मतुष्टि में उलझ जाती है। काल्पनिक आत्मतुष्टि का वायवी प्रयत्न आत्मानु-भूति की ऊँचाइयों से असम्मुक्त होकर आत्मरति में संलग्न होता है। त्वरित मान-सिक रोग है। इस समस्त वातावरण मे स्वस्थ अहं की स्थापना नहीं हो पाती। जीवन या अहं के प्रति छायावादी कवि की कोई विशेष दृष्टि नही रहती, एक आवेश रहता है जो काल्पनिक क्षणों को दीप्त करता है और आत्मोन्माद की स्थिति पैदा करता है। यदि इस आवेश या आवेग को एक व्यापक जीवन-दृष्टि मिल जाय तो विघटित जीवन-मूल्य फिर से संघटित हो सकते हैं। पर कुण्ठा व्यापक-दृष्टि को अवरुद्ध कर देती है। व्यापक दृष्टि जीवन के विवेक और उसकी समग्रता से प्राप्त होती है। संक्षेप मे यही छायावादी कवि का विडम्बनापूर्ण अन्तर्लोक है।

कुण्ठा यदि मानसिक जीवन की अगति है, तो पलायन बाह्य जीवन की। पलायन एक प्रकार से अगति नही, विपरीत गति का ही नाम है। पलायन की प्रवृत्ति का नियन्त्रण विवेक और अहं की मर्यादा-स्वीकृति से होता है। इन दोनों ही का अभाव पलायन की गति को तीव्र बना देता है। इस काल के कवि का भाव-बोध

सामूहिक अचेतन के तत्त्वों या विचित्र प्रकार की वर्जनाओं से पीड़ित था। समस्त बाह्य जगत् कुण्ठित कवियों की वर्जनाओं का ही पुञ्जीभूत रूप प्रतीत होता था। वर्जन आन्तरिक वृत्तियों की बहिर्गति पर एक दबाव बन जाता है। अहं की शक्ति के अभाव में प्रेम के प्रति [illegible] वि खुलकर नहीं कह सकता क्योंकि [illegible] न नहीं हो पाता। आत्मानुभूति इन वर्जनाओं से आकुल-व्याकुल होकर पलायनशील हो जाती है।

पलायन भी एक दिशा होती है। पलायन स्वयं किसी मूल्य की स्थापना नहीं कर सकता पर सामने एक निरपेक्ष कल्पना-लोक अवश्य रखता है। यहीं पर असीम-ससीम जैसी शब्दावली पर आधारित एक दार्शनिक संस्पर्श मिलता है। 'इस पार' से 'उस पार' की यात्रा का नाम 'पलायन' को दिया जाता है। इस प्रकार पलायन का नामकरण अन्तर्यात्रा का रहस्य-यात्रा के रूप में होता है। यही पलायन का तथाकथित उदात्तीकरण है। स्पष्ट बात यह है कि इस वर्जन के वातावरण ने जिस राग-प्रक्रिया को रोक दिया था, वह विमुख हो गई है। वर्जन की व्यञ्जना बच्चन ने स्पष्ट रूप से की है—

'पाप मेरे वास्ते है, नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना'

'पाप की धारणा भी वर्जन का ही एक अर्ध-स्वीकृति का रूप है। नवीन विवेक पाप की इन रूढ़ परिभाषाओं से मुक्त होने की चेष्टा कर रहा है, पर छायावादी कवि यह नहीं कर पाया। कवि की स्पष्टोक्तियाँ पाप में निहित वर्जनाओं की दृष्टि से नग्न वासना के उद्गार बन जाती हैं। पाप की परिभाषा की परम्परा अनेक रूढ़ियों और वर्ग-चेतना की विकृतियों से समाविष्ट रहती है। उद्बुद्ध चेतना इनसे बाध्य नहीं होती। पर जब अहं प्रबल होता है तो इनसे जूझ नहीं सकता। अनुभूति की प्रकृति और अभिव्यक्ति में छल-छद्म आ जाता है। न जाने कितने अपरिहार्य आग्रह उस कवि को पलायन करने की प्रेरणा देते हैं।

डा. नगेन्द्र ने इस प्रवृत्ति-प्रक्रिया को पलायन कहना उचित नहीं समझा। उन्होंने इसके सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं : "आज के आलोचक इसे पलायन कह कर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए प्रत्यक्ष रूप में पलायन का रूप नहीं है। वास्तव में अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है : उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों को इस अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।" पर प्रतीत ऐसा होता है कि वास्तव का परिज्ञान इस कवि को न व्यापक रूप में ही था और न अपने प्रकृत रूप [illegible] था।

इस परिज्ञान के पीछे जीवन के प्रति आस्था और स्वस्थ अहं की प्रतिष्ठा का अभाव है। वास्तव को अतीन्द्रिय बनाने की प्रक्रिया भी कुछ स्पष्ट नही है। वास्तव के प्रति कवि मे एक एलर्जी हो जाती है। इसलिए वह वस्तुगत यथार्थ का समग्र दर्शन नही कर सकता। वह एक अन्वेषण करना चाहता है। अन्वेषण एक बौद्धिक प्रक्रिया है। अतः अपनी ही कुण्ठाओं से आक्रान्त कवि नवान्वेषण के प्रति भी ईमानदार नही रह पाता। अपनी पराजयों और विकासहीन अहं की कटुताओं को वह छद्मावरण देने की प्रक्रिया मे पहले प्रवृत्त होता है। तत्पश्चात् उस छद्मावरण की कल्पित स्वर्ण-सज्जा की जाती है और एक कल्पना-लोक की सृष्टि हो जाती है। यह सब पलायन की प्रवृत्ति ही है। यह पलायन उसे स्वर्ण अतीत की ओर भी ले जा सकता था और आशापूर्ण भविष्य की ओर भी। स्वर्ण-अतीत भी वर्तमान कुण्ठाओं के सन्दर्भ में वर्जनों की परम्परा मे एक कड़ी जैसी ही लगती है। वर्तमान वस्तु जगत् के स्थूल असन्तोष के लिए स्वर्ण अतीत पलायन लोक बन सकता है। पर सामाजिक वर्जनों और पाप की धर्म-रूढ परिभाषाओं से कुण्ठित मन अतीत को भी पलायन लोक नही बना सकता। राष्ट्रीयतावादी कवि स्वर्ण-अतीत मे जागरण और प्रेरणा के कुछ क्षण उधार ले सकते थे छायावादी कवि का असन्तोष और कुण्ठा अचेतन के स्तरों से छन रही थी। अतीत की पुनर्योजना के आधार पर बना पलायन लोक चेतन और बौद्धिक क्रियाओं की अपेक्षा करता है।

भविष्य को भी पलायन-लोक बनाना कठिन था। भविष्य के साथ आशामय रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना भी कुण्ठा की मनोवृत्ति में सम्भव नही। जैसा कि पहले देखा जा चुका है, कुण्ठा अगति का प्रतीक है और भविष्य की परिकल्पना एक स्वस्थ मानसिक गति, जीवन के प्रति आस्था, जूझने के साहस और व्यक्तित्व के विश्वास पर निर्भर रहती है। वर्तमान के यथार्थ और भावबोध का बौद्धिक जागरूकता के साथ समग्र परिशीलन और वर्जनों से प्राप्त पुंस्त्व ही भविष्य के प्रति आशावान बना सकता है। पर यह स्थिति छायावादी की नही है। वर्तमान के स्थूल यथार्थ से वह आहत है।

स्वर्ण अतीत और आशापूर्ण भविष्य के पलायन-लोक इस कवि की सामर्थ्य मे नही रहे। एक स्वप्न लोक रह गया। इसमें दिवास्वप्नों का आलोक है। दिवास्वप्नों की गति वैसे भविष्योन्मुख होने को मचलती है, पर ठोस आधार के अभाव में उसकी गति वृत्ताकार हो जाती है। आदि-अन्त हीन। गति प्रगति नहीं बन पाती। स्वप्न वर्जनों से उत्पन्न कुण्ठाओं और दमित वासनाओं का रङ्गीन प्रतीक विधान है। इसमें स्वप्नों के आश्रय का कर्तृत्व नही रहता: एक मनोवैज्ञानिक विवशता रहती है। उसे स्वप्न देखने ही पड़ते हैं। यह कलाकार को अभिव्यक्ति सम्बन्धी वह विवशता नहीं जो अपनी बौद्धिक प्रक्रिया मे या अनुभूतियों के वेग मे उच्च कला-सृष्टि का कारण बनती है। यह कुण्ठित मन की आत्मतुष्टिपरक विवशता है, जिसमें

रङ्गीनी तो पर्याप्त है पर जीवन्त क्षणों की सघनता और उदबुद्धि जन्य स्वस्थ परिणति का अभाव रहता है। अतः पलायन लोक जग के उस पार कहीं बनता है—

हमें जाना है जग के पार
जहां नयनों से नयन मिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा हो बहती नव-रस धार,
वहीं जाना, इस जग के पार।—निराला

स्वप्न लोक की तुष्टिकारी प्रेयसी का वायवी और अमांसल रूप इस प्रकार का होगा—

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम
अये अभिनव अभिराम !
मृदुलता ही है बस आकार
मधुरिमा—छवि शृङ्गार;
न अङ्गों में है रङ्ग, उभार,
न मृदु उर के उद्गार;
निरे सासों के पिंजर द्वार,
कौन हो तुम अकलङ्क अकाम !—पन्त

रविबाबू की 'निरुद्देश्य यात्रा' में इसी पलायन-यात्रा की गूंज है। निराला जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

क्या वही तुम्हारा देश
ऊर्मि-मुखर इस सागर के उस पार—
कनक-किरण से छाया अस्ताचल का पश्चिम द्वार ?

इन्हीं संकेतों में अध्यात्मक का एक रङ्ग ऊपर से देखने को मिलता है। पर थोड़ी ही देर बाद रङ्ग तिरोहित हो जाता है।

छायावादी कवि का सौन्दर्य-बोध भी एकाङ्गी है। इसके कारण हैं उसकी सौन्दर्य-भावना का यथार्थ से विच्छिन्न होना और सौन्दर्य की जीवन-सापेक्षिता का अभाव। सौन्दर्य-बोध के साथ एक रहस्य का झीना पर्दा अवश्य पड़ा मिलता है : उसमें जग-जीवन से पृथक् किसी दिव्यज्योति का आभास कभी-कभी छायावादी कवि पा लेता है; पर वस्तुतः वह पा नहीं लेता। सौन्दर्य के इस रहस्यांचल की छाया में उसकी मूल अनुभूतियां और प्रेरणाएं नहीं पनपतीं। यह तो एक आरोपित या कल्पित सौन्दर्य-बोध है।

सौन्दर्य के साथ यह आरोपित परिवेश अपने आप में महत्वपूर्ण अवश्य है, पर सौन्दर्य के परिवेश के समग्र रूप का अभाव मिलता है। डा. नगेन्द्र ने सत्य ही कहा : 'छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिल कर, विस्मय का

भाव मिलता है।' जिज्ञासा या विस्मय भी प्रौढ नही जिसमे कवि की भावात्मक सत्ता को सक्रिय बनाने की शक्ति हो। सौन्दर्य के साथ उपभोग की भावना रागात्मक सम्बन्ध को भी दृढ़ करती है। विस्मय या जिज्ञासा मे खोज या जानने की प्रेरणा निहित रहती है। पर छायावादी कवि जानने की बौद्धिक प्रक्रिया से भी दूर है। इस प्रकार इस सौन्दर्य-बोध का आरोपण विस्मय की रङ्गीन उडानों तक ही सीमित रह जाता है। सौन्दर्य-की आत्म-भंकृति या सौन्दर्य के प्रति आत्मानुभूति इसमें दब जाती है। वस्तुतः विस्मय ही अन्तिम सत्य नहीं है। विस्मय की भावना सौन्दर्य के चमत्कार से उत्पन्न होती है। विस्मय उसे रहस्यवाद के प्रारम्भिक छोर तक ले जाकर छोड़ देता है। अतः सौन्दर्य की रहस्यानुभूति भी उसकी अनुभूतियो का एकान्त सत्य नहीं बन पाती। इसी स्थल पर दिवास्वप्नो की एक भीड़ आ खड़ी होती है जो विस्मयकारी सौन्दर्य से अपने खाली प्याले को भर कर तृप्त होना चाहती है। 'इसपार' के यथार्थ का सम्बल भी छूट जाता है और 'उसपार' की दृष्टि भी नहीं मिल पाती। उसकी रहस्य दृष्टि शैली, कीट्स या वर्ड्सवर्थ के स्तर की भी नही हो पाती। सारा विस्मय शिशु सुलभ है।

छायावादी कवि सौन्दर्य के समग्र रूप को अपने अन्तर्लोक में नहीं समेट पाता। उसकी विकल अह-भावना उसके सौन्दर्य-बोध को सीमित कर देती है। उसका विस्मय भाव बहुत देर तक प्रमायिक नहीं रह पाता। उसकी अन्तर्वेदना विस्मय को घेर लेती है और इस संत्रस्त मनः स्थिति मे पीड़ा समस्त चेतना को अभिभूत करने लगती है। अतः सौन्दर्य की समस्त स्थिति अ सुओं से भीग जाती है—

> वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड में
> तुहिन में, तृण में, उपल मे, लहर में,
> तारकों में, व्योम में है वेदना
> वेदना ! कितना विशद् यह रूप है,
> यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा।—पंतः ग्रन्थि

बच्चन के स्वरों में सौन्दर्य के साक्षात्कार की कुछ विशेष चेष्टा दिखलाई पड़ती है, पर पीड़ानुभव की छाया पीछा नहीं छोड़ती। सौन्दर्य भी छायावादी कवि को जैसे आन्तरिक कुण्ठाओं के समावेश मे पीड़ा ही देता है। ऐसा सौन्दर्य-बोध जीवन की गति उतनी नहीं देता, जितनी पलायन की प्रेरणा। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध के साथ पीड़ा गाढ़ी होती जाती है। वायवी सौन्दर्य-कल्पना के पङ्खों पर पीड़ा के पत्थर लटक जाते है।

सौन्दर्य-बोध का एक कामाश्रित स्तर प्रकृति पर नारी के आरोपण से प्रकट होता है। कुण्ठाओ का केन्द्र काम है। सुधार-युग की जीवन-निरपेक्ष नैतिकता और

रूढ़ जीवनादर्शों से काम-केन्द्र उद्वेलित हो जाता है। सौन्दर्य के बाहरी केन्द्र प्राकंपित करके परे हटते चले जाते हैं और मन इन्हें पकड़ने की मृग-मरीचिका-पद्धति की क्रियाओं में लग जाता है और चतुर्दिक तृष्णा और अतृप्ति! बाह्य सौन्दर्य केन्द्रों में नारी प्रमुख है। प्राकृतिक सौन्दर्य भी अधिकांश नारी के प्रस्तुत सन्दर्भ के साथ अपना अप्रस्तुत सौन्दर्य मिला देता है 'नारी' के सौन्दर्य के प्रतीक बहुविध विकसित हुए हैं। आरम्भ में आध्यात्मिक प्रतीक नारी के सौन्दर्य को एक विराटता देने लगे थे। पीछे प्रकृति पर नारी का आरोप कर दिया गया। प्रकृति पर आरोपित नारी अपने यथार्थ परिवेश से विच्छिन्न हो गई। उसका आङ्गिक सौन्दर्य छूटा नहीं। नारी के सौन्दर्य चित्रों में मांसलता भी पर्याप्त मिलती है। गुञ्जन में प्रणय मिलन का कैसा तरल चित्र मिलता है—

> नयन से नयन, गात से गात
> पुलक से पुलक, प्राण से प्राण
> भुजों से भुज कटि से कटि सात
> आज तन-तन मन-मन हों लीन।

इस चित्र में सौन्दर्य-जन्य तृष्णा और उसकी आत्मतुष्टि का स्वर मुखर है! 'निराला' का भी एक मांसल सौन्दर्य-युक्त मिलन-चित्र देखिए—

> नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली।
> जागी रात सेज प्रिय पति संग रति सनेह रंग घोली।
> दीपित दीप प्रकाश कंज छवि मञ्जु-मञ्जु हस खोली।
> मली मुख चुम्बन रोली।
> प्रिय कर कठिन-उरोज परस कस कसक मसक दई चोली।
> एक वसन रह गई मंद हँस अधर दशन अन बोली।
> कली सी काँटे की तोली।
> मधु ऋतु राग मधुर अधरों की पी मधु सुध बुध खोली।
> खुले अलक, मुँद गये पलक, दल श्रम सुख की हद होली।
> बनी रति की छवि भोली।
> बीती रात सुखद बातों में प्रात पवन प्रिय डोली।
> उठी सभाल, बाल, मुख, लट, पट, दीप बुझा हस बोली।
> रही यह एक ठिठोली।

सुनते हैं 'रही यह एक ठिठोली' में कुछ ऐसा संकेत है जिसके स्पर्श से गीत की समस्त मांसलता घुन-पिघल जाती है। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में यह संकेत स्वप्न की ओर है। जैसे सारी मिलन-क्रियाएं किसी स्वप्न में घटी हों क्योंकि जागरण ने क्षणों को भरने में संजाने से इन्कार कर दिया था। किसी आध्यात्मिक संकेत

का आरोपण भ्रम ही है। यदि कोई यह भ्रम रखे तो कवि की ईमानदारी की अवहेलना ही करेगा। नरेन्द्र ने चित्र की रेखाओं की ओर भी स्वप्नाकुल बना दिया है। जैसे भूख बढ़ गई हो जो तृप्ति की सम्भावनाओं को मदिरा समझ कर पिए जा रही हो और तृप्ति दूर हो, नरेन्द्र की वासना का उभार देखिए—

> पिये अभी मधुराधर चुम्बन, गात गात गूँथें आलिंगन।
> सुने अभी अभिलाषी अन्तर, मृदुल उरोजों का मृदु कंपन।
> आज लजाओ मत सुकुमारि, आज सुप्त है संसृति सारी।
> आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय, निज वक्षस्थल में भर लूँगी।
> मृदुल गोल गोरी बांहों में, कम्पित उर को कस लूँगी।
> फूलों के तन में भर लूँगी, अलि से रैन बिदारे बालम।
> आज न सोने दूँगी बालम।

'सुप्त संसृति' में कवि का आतङ्कित चेतन बोल रहा है। इस प्रकार के अनेक चित्र छायावादी चित्रशाला में मिलेंगे। सभी में काम-ग्रंथि की उलझनें और कुण्ठा की कटुता का मिश्रण हुआ है। मृग-मरीचिक न्याय वाली तृप्ति, प्यास ही बनती जाती है। इनमें मांसलता और स्थूलता का अभाव नहीं है। जो यह कहते हैं कि है। छायावाद में अमांसल, सूक्ष्म और आत्मगत सौन्दर्य है, उनको अपने मत को इन चित्रों के साथ रख कर फिर से देखना चाहिए। कभी-कभी इन वासना सिक्त चित्रों के लिए फलक प्रकृति से उधार लिया गया है। 'जुही की कली' में फलक अत्यन्त मनोरम और संकेतपूर्ण है। प्राकृतिक घटना को फलक का रूप दिया गया है। शब्द अपनी वासना में डुबोकर जोड़ दिए गए हैं। इससे वासना केन्द्र पर बना घटना-सूत्र कुछ विराट् हो जाता है। धीरे-धीरे फलक और चित्र एक दूसरे से घुलते-मिलते जाते है। यही कहीं बुद्-बुद् सा आध्यात्मिक संकेत आ उभरता है। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध एक सीमा में ही उठता-गिरता है। रीतिकालीन शृङ्गार-चित्रों के नख-शिख विधान उभार और क्षीणता में मिलते हुए अनुपात के सामञ्जस्य के आकर्षण से पूर्ण है। वे चित्र अङ्गों के छायावादी विशेषणों में ढल गए हैं और चित्र में वासना की मानसिक चञ्चलताएं व्यक्त होती है। ये चंचलताएं स्वप्न के समान आकुल और अनिश्चित हैं। जीवन के जाग्रत धरातल के साथ इनका सामञ्जस्य नहीं है। शिल्प का सौन्दर्य भी स्वप्न की तरलता के कारण और लुके-छिपे अर्थ वाले शब्दों के विधान के कारण है।

इन चित्रों में कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति और नारी के सौन्दर्य की मिश्रित सरणि आध्यात्मिक होने जा रही है और कभी लगता है कि प्रकृति एक फलक मात्र है। प्रकृति को कवि ने सजीव स्पन्दनों से अवश्य युक्त किया है। उसमें चेतना का आरोप है। वह जहां कवि की चेतना को कुछ सौन्दर्य-संकेत देती है,

वहां कवि की चेतना भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति से सम्पृक्त होती है यह सम्पृक्त चित्र ही कवि की कल्पना की ऊंचाइयों का प्रमाण है ये ही छायावादी सौन्दर्य बोध के कुछ स्तर है। इन्हीं में छायावादी कवि की सफलताएं और विफलताएं व्याप्त हैं। इस सौन्दर्य बोध की व्याख्या करते हुए डा. नित्यानन्द तिवारी ने लिखा है : "छायावादी कविता का महत्व इस बात में नही है कि उसमें सूक्ष्म, अलौकिक, असीम के संकेत मिलते हैं और न इस बात मे है कि उसकी बिल्कुल लौकिक व्याख्या कर दी जाये। बल्कि इस बात में है कि सूक्ष्म, अलौकिक और असीम को लौकिक प्रमाण देने का वह काव्यात्मक विधान है। लौकिक को अलौकिक प्रमाण से परिष्कृत करने के स्थान पर छायावादी कविता ने अलौकिक और लौकिक प्रमाण से धारण करने का उचित और योग्य काव्यात्मक साचा तैयार किया।" (विचार कविता की भूमिका पृ. 11)।

अपनी उद्दाम वासना की कुंठा से पीडित अन्तर्मन अभिव्यक्ति से मुक्ति का अनुभव करता है। जिन नैतिक रूढ़ियों के कारण वैयक्तिक वासना सीमित रहती है, उन्हीं के कारण अभिव्यक्ति का रूप भी घटित होता है। समाज के मान-मूल्यों और आदर्शों की अनुकूलता मे अभिव्यक्ति स्पष्ट और मुखर हो सकती है। उसमे अभिव्यक्ति के स्थूल उपकरणों का प्रयोग रहता है। स्थूल उपकरणो के प्रयोग में चमत्कार उत्पन्न करना भी एक विशिष्ट शैली मे होता है। पर कुंठा ग्रस्त, आतङ्कित और क्षुब्ध मन की इतनी आन्तरिक जटिलताएं होती हैं और इतने स्वतन्त्र और समाज की अवहेलना करने वाले सूत्र होते हैं कि अभिव्यक्ति भी सरल-सीधी न होकर अन्तर्मुख और सूक्ष्म उपकरणो पर आधारित हो जाती है। इस अभिव्यक्ति का ऐन्द्रिय परिज्ञान इतने संकेतों से आकुल होता है कि अन्ततः शब्दार्थ-स्तर छूट जाता है और संकेत व्यग्यार्थ और लक्षणार्थ की कोटियों तक ले जाने की चेष्टा करते हैं। 'शब्द' अपनी व्यावहारिक सत्ता को छोड कर किसी वायवी या अन्तर्मुक्त सत्ता का वहन करने वाले प्रतीक बनने लगते है। शब्द जब प्रतीत बनने लगता है, तब अन्तश्चेतन के संकेत कभी स्पष्ट रहते हैं और कभी अस्पष्ट। अस्पष्ट संकेतों के माध्यम से जिज्ञासा या कुतूहल के भावों मे गति आती है। प्रतीकों की सज्जा-सामग्री के दो प्रधान स्रोत हैं। एक स्रोत प्रकृति का है और दूसरा अध्यात्म का। अध्यात्म और बाह्य प्रकृति के बीच कवि की अन्तः प्रकृति की अवस्थिति है। इसी प्रकृति का उत्तेजित रूप कभी प्रथम स्रोत के प्रतीकों की योजना से ऐन्द्रिय जगत् की निष्ठुरता से अन्तर्मुख पलायन के स्वरों को मुखर करता है। इन प्रतीकों से सकुचित और कुण्ठित अहं का कुछ कल्पनात्मक और भावात्मक विस्तार हो जाता है। यह विस्तार उद्वेलित व्यक्तित्व के लिए एक उन्माद बन जाता है। आध्यात्मिक ऐसा प्रवञ्चना का जाल भी बुनते हैं, जिसमें समाज की वर्जना-क्रिया उलझ

कर रह जाती है। इन आध्यात्मिक प्रतीकों का शुद्ध रूप दार्शनिक रूढ सिद्धान्तों को व्यक्त करता है। इन रूढ प्रतीकों की योजना के अनुकूल नहीं होती। इसलिए कवि अपने निजी भावों को उन काव्य-रहित प्रतीकों से बचा कर एक नवीन प्रतीक योजना करता है। शुद्ध आध्यात्मिक प्रतीक प्रस्तुत या अलङ्कार्य से सम्बद्ध होते हैं। काव्योचित भावनाओं की प्रक्रिया लौकिक प्रतीकों को आध्यात्मिक व्यञ्जना देने की होती है। यदि इस प्रकार की प्रतीक-योजना क्रमिक और सघन हो जाती है तो रहस्य की अभिव्यक्ति होती है। छायावाद में आध्यात्म के धरातल पर अपनी ही छाया देखने का प्रयत्न है।

दूसरी ओर प्राकृतिक प्रतीक है। अदृश्य आध्यात्मिक प्रतीक यहां दृश्य हो जाते हैं। प्रकृति मनुष्य की अलङ्करण-वृत्ति को भी सदैव से सन्तुष्ट करती रही है और उसकी प्रतीक प्रयोग की प्रवृत्ति को भी। प्राकृतिक प्रतीकों की एक भोंडी और स्थूल योजना उपदेशात्मक हो जाती है। नैतिकता से यह प्रतीक-विधान दब जाता है। पर जब कवि अपने राग से प्रकृति को उद्रिक्त करके सजीव बना देता है तो वह अपनी ही छाया, प्रतिच्छाया का सौन्दर्य प्रकृति के उपकरणों में देख सकता है। प्राकृतिक प्रतीक कवि की अन्तर्व्यथा को सहानुभूति के साथ बाहर निकालते हैं। उस व्यथा से सम्बद्ध अर्थ का क्रमशः उद्घाटन होता है। यदि समस्त अर्थ एक साथ खुल पड़े तो सामाजिक प्रतिक्रिया स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को ललकार देगी। क्रमशः अर्थोद्घाटन समाज को धीरे-धीरे अभिव्यक्त सत्य के प्रति सहिष्णु बनाता चलता है। यहीं अभिरुचि का प्रश्न उपस्थित होता है। अभिरुचि मानव की संस्कृति के साथ चिर विकास शील तत्त्व के रूप के सम्बद्ध रहती है। इस अभिरुचि को स्थिर नही किया जा सकता। स्थिर अभिरुचि आन्तरिक ह्रास का प्रतीक है। समाज में धीरे-धीरे एक अभिरुचि विकसीत करना अभिव्यक्ति का सबसे बडा दायित्व है। प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग करके छायावादी कवि ने एक रुचि का भी निर्माण किया। यदि इन प्रतीकों के आवरण को दूर फेंक कर छायावादी अर्द्ध-सत्य या अपूर्ण अनुभूतियां नग्न कर दी जाय तो इस युग की उद्बुद्ध और जाग्रत अभिरुचि विद्रोह कर उठेगी। इस प्रकार छायावादी कवि ने प्राकृतिक प्रतीकों का संग्रह शृङ्गार और उपयोग बड़े कौशल से किया है।

तात्पर्य यह है कि छायावादी व्यंजना पद्धति अत्यन्त जटिल और श्लिष्ट हो गयी। इसका कारण यह है कि "उसमें एक से अधिक, यहां तक कि विपरीत अर्थों की सम्भावनाएं हैं: उसकी श्लिष्टता और जटिलता के बीच अंतर्विरोध की प्रबल भूमिका है" ""छायावादी काल की श्लिष्टता और जटिलता इस बात में है कि विश्वास के स्थान पर विचार ने उसके रचना पार्श्व को उभारा है।" (डा. नित्यानन्द तिवाड़ी विचार कविता की भूमिका पृ. 12)

काव्य रूप की दृष्टि से गीत के विभिन्न प्रयोग छायावादी काव्य-लोक मे मिलते हैं। गीत सम्भवतः मानव-प्रकृति के सबसे अधिक समीप है। मानव जीवन का नैसर्गिक अनुभूति-विकास का इस विधा के साथ सदा ही सामञ्जस्य रहा है। इसमें कवि तटस्थ दृष्टा न रह कर विधा के साथ घुल मिल जाता है। छायावादी कवि अन्तर्गत सङ्गीत की जर्जरावस्था ने वाह्य गीतों की योजना में शान्ति का अनुभव किया है। गीत का इतना वैभव पूर्व-युगो मे नही मिलता। 'कामयानी' जैसे इस युग का वृहत्तम-गीत वन गया। यह भी गीत के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। शास्त्रीय अनुशासनों की उपेक्षा का भाव कामायनीकार में इतना नहीं, जितना मानव के भावात्मक विकास को और उसकी अनुभूति-गत सरणियों को गीत-बद्ध करने का उद्देश्य। स्थूल इतिवृत्त क्षीण से क्षीणतर होता जाता है कि कहीं गीत में अस्थि-स्पर्श की कठोरता ही न फैल जाय। वह इतिवृत्त तरल होता होता भाव-बिन्दु में सिमट जाता है और गीत-बिन्दु विकसित होकर महाकाव्य से होड लेने लगता है। निराला का 'तुलसीदास' भी ऐसा ही एक गीत-प्रयोग है। वातावरण और भाव भूमि गीत के समान ही हैं। हो सकता है कि इन रचनाओं को गीत कहने से इन्हे महाकाव्य का गौरव प्रदान करने वाली प्रवृत्ति को ठेस लगे। पर मैं समझता हूं कि यह छायावादी गीत-साधना का चरम विकास है जो उसका बहुत बड़ा देय माना जा सकता है।

अलङ्कार विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उपमान और उपमेय एक स्वतः सम्भूत रागात्मक सम्बन्ध मे बधे हुए मिलते हैं। उपमेय पर कवि अधिक ठहर नही सकता। यदि उपमेय पर वह अधिक ठहर जाता है तो विशेषण-बहुल शैली का जन्म होता है। यदि उपमेय के सकेत को उपमान की स्फीति से कवि प्रेषित करता है तो, अलङ्कार सच्चे अर्थ मे सौंदर्य का उपकरण बन जाता है। छायावादी कवि उपमेय को छोड़ कर उपमान के चित्रात्मक या प्रतीकात्मक नियोजन मे लग जाता है। वह समस्त चित्र आरोह करता-करता अन्त में एक सशक्त सकेत बन जाता है और उपमेय इसके समग्र रूप से झलकने लगता है। उपमान की सज्जा उपमेय की सज्जा बनने लगती है। उपमान की योजना इस प्रकार की जाती है कि उपमेय की पूर्ण व्यंजना के लिए एक पृष्ठभूमि बन जाय। इसीलिए छायावादी कवि को ऐसा अलङ्कार विधान प्रिय है, जिसमें उपमान ही प्रकट हो उपमेय लुप्त। उसे रूपक से नहीं, रूपकातिशयोक्ति से प्यार है। उपमेय को इतना प्रच्छन्न रखना भी कुण्ठा और वर्जन का ही परिणाम है। दूसरी पद्धति विरोधाभास-मूलक अलङ्कारों का प्रयोग करने की है। कवि के मन का विरोधाभास इस अलङ्कार योजना से अधिक सूचित होता है। महादेवी की पंक्तियों मे यह अधिक खिला है—

स्पन्दन मे चिर निस्पन्दन बसा।
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा।

नयनों में दीपक से जलते ।
पलकों मे निर्झरणी मचली ।

एक और अलङ्कार सम्बन्धी प्रयोग छायावाद मे मिलता है। उसका आधार मालोपमा जैसा लगता है। पंतजी की 'बादल' और 'छाया' कविताओं मे इस विधान को देखा जा सकता है। अलङ्कारों की एक शृङ्खला इस प्रकार बनाई गई है कि 'खड' अखड होने की ओर चलते हुए प्रतीत होते है। उपमेय के प्रति कवि की भावात्मक प्रतिक्रिया एक के बाद एक रूप ग्रहण करती है। कवि की कल्पना भी गतिशील रहती है और चित्र का भी क्रमशः अङ्ग-विकास होता है। कवि का चेतनारोपण व्यापार भी क्रमशः चलता है। अन्त में चित्र और अलंकार पूर्ण हो जाते हैं, भाव की दृष्टि से भी और रूप की दृष्टि से भी।

अलङ्कार-योजना के एक चर्चा स्थूल के लिए सूक्ष्म उपमान जुटाने के सम्बन्ध मे भी की जाती है। वह कोई विशेष नई बात नही है।

भाषा के परिष्कार की साधना छायावाद को करनी पडी। खडी बोली साहित्य के क्षेत्र मे मान्य तो हो गई थी, पर इसका अपना सौन्दर्य और मूल्य नही निखरा था। भाषा के सौन्दर्य की अपेक्षा हमारा ध्यान उसमे संग्रहित राष्ट्रीयता और सन्देश की महानता से अभिभूत हो जाता था। अर्थात् अर्थ का सौन्दर्य प्रमुख हो गया था और शब्दार्थ के साहित्य से जो कलात्मक सौन्दर्य विकसित होता है उसका प्रायः अभाव ही बना रहा। छायावादी कविता ने भाषा का अन्तर्बाह्य संस्कार और अलङ्करण किया। शब्द की आत्मा का अन्वेषण किया गया। निराला ने खड़ी बोली के नाद-सौन्दर्य को खोजा। पन्त ने भाषा की चित्रात्मकता को उभारा। महादेवी ने वेदना मे गलाकर शब्द को मृदुल बनाया। प्रसाद ने भाषा को प्रतीक-प्रगल्भ बनाया। खड़ी बोली की अधिकाश शक्तियो की खोज इस युग के कवि ने करली थी।

कुल मिला कर छायावादी कवि की शिल्प सम्बन्धी देन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

छायावाद ने ऐतिहासिक रूप से एक नवीन सौदर्य-बोध की प्रतिष्ठा की। चाहे यह सौंदर्य-बोध जीवन को सापेक्षिता मे कुछ नीचा ठहरे, पर इसमे नवीन दिशा का उद्घाटन अवश्य है। अभिरुचि का परिष्कार इस युग के कवि ने आरम्भ किया। भाव-बोध के नवीन स्तरों की खोज भी इस कवि ने की। भाव-बोध को कठोर यथार्थ से विच्छिन्न करके छायावादी कवि ने एक साहित्यिक अपराध अवश्य किया पर अपनी कुण्ठाओं और जर्जर व्यक्तित्व के प्रति वह ईमानदार जरूर है। मनतः वह रुग्ण तो है, पर रोग के कारण रूढ़ीग्रस्त समाज में निहित है। इसीलिए रोग उदात्त हो जाता है। शिल्प और शैली सम्बन्धी देनें तो सर्वस्वीकृत हैं ही। जो उपेक्षित रहा उसने 'प्रगति' के रूप मे प्रतिक्रिया की। जो अछूता रहा उसके सम्बन्ध मे 'प्रयोग'

होने लगे। अपनी ही दुर्बलताओं के कारण छायावादी कवि इस कल्पना-लोक को छोड़ गया। 'पल्लव', 'युगान्त' बना; 'जुही की कली', 'कुकर-मुत्ता' के रूप में नवीन सौंदर्य बोध की सूचना देने लगी। सभी प्रगति की ओर लौटे। यह जीवन के यथार्थ की विजय थी। यह बहिर्जगत् की अनिवार्यता थी। यह सामाजिक परिप्रेक्ष्य के प्रति बौद्धिक आकर्षण था। बदला हुआ कवि कभी गांधी का स्पर्श करने लगा, कभी मार्क्स का, कभी विवेकानन्द की ओर देखने लगा, कभी अरविंद की ओर। कभी नवीन यथार्थ को आत्मसात् करने लगा, कभी आर्थिक समस्याओं में उलझने लगा। छायावादी केन्द्र इस तरह विच्छिन्न हो गया। पर छायावाद एक 'ताजमहल' जैसे अमर स्मारक के रूप में जीवित है : कुण्ठा के साहित्य का इतना गौरवमय स्मारक अन्यत्र दुर्लभ है।

साहित्य में भी युगांतर आया। छायावादी चेतना, अपने लिए नया रास्ता ढूँढ़ने लगी। निराला में प्रगतिवादी स्वर स्पष्ट और प्रखर हुआ :

अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू रंगोआब
खून चूँसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट।

यह नये माहौल में कविता का दिशांतर है। प्रगतिवादी विचारकों की भी प्रतिक्रिया छायावाद के प्रति हुई। स्वतन्त्र रूप से भी नये प्रगतिशील विचारक और संगठन सामने आये। तटस्थ रूप से भी प्रगतिवादी क्रांति और विचार धारा का स्वागत हुआ। गणेश शंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' में अनेक लेख सोवियत की नवोदित संस्कृति के विषय में लिखे। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने त्रिशूल नाम से बनारस के 'आज' में साम्यवाद के समर्थन में कविताएं लिखी। कृष्णकांत मालवीय ने 'मर्यादा' (इलाहाबाद) में सोवियत जीवन दर्शन के प्रति आस्था दृढ़ की। इसी प्रकार का स्वागत कलकत्ते के 'विश्वमित्र' तथा 'भारतमित्र' जैसे पत्रों ने किया। स्वतन्त्र रूप से कितनी ही पुस्तकें भी प्रकाशित की गईं। सितम्बर-अक्टूबर 1919, में 'प्रताप-पुस्तक-माला' की 15वीं पुस्तक 'साम्यवाद' प्रकाशित हुई। इसी वर्ष बाबू रामचन्द्र वर्मा की पुस्तक 'साम्यवाद' प्रकाशित हुई। कवियों ने कविताएं भी लिखी।

आधुनिकता का यह पदविन्यास चेतन रूप से भी हुआ, अचेतन रूप से भी हुआ, इसका पारिभाषिक रूप भी बना और स्वतः स्फूर्त रूप भी। स्वाभाविक विकास भी हुआ और इसका इस नवागत का स्वागत भी हुआ।

'प्रगति' शब्द जिन अर्थों से गर्भित है, वे अर्थ मानव की चिर विकासशील प्रकृति से सम्बद्ध है। मानव ने विभिन्न परिस्थियों की जटिलताओं में होकर अपनी विकास-गति को अक्षुण्ण रखा है। 'गति' चेतना का प्राकृतिक धर्म है। प्रगति में यही गतिशीलता है जो मनुष्य की बौद्धिक सोद्देश्यता और लक्ष्य की सुनिश्चितता की व्यंजक है। मनुष्य की बाह्य विकास-यात्रा के पीछे अन्तर्मन और अन्तर्चेतन में व्याप्त अपनी सीमाओं और विवशताओं से उत्पन्न असन्तोष और तज्जन्य विद्रोह-भावना भी रहती है, वह भी इस शब्द के अर्थ-क्रम में स्थान बना लेती है। कुल मिलाकर 'प्रगति' शब्द अन्तर्बाह्य रूप से आगे बढ़ने की क्रान्तिमयी चेष्टा का प्रतिनिधित्व करता है, इस दृष्टि से यह शब्द सापेक्ष है। 'प्रगति' अपने शुद्ध रूप में मानव की एक सहज मनोवृत्ति और उसके सामूहिक जीवन की मूल आवश्यकता है। इसको अपनाने वाला साहित्य प्रगतिशील कहा जायेगा।

इस शब्द के साथ 'वाद' का संयोग हुआ। इस संयोग-प्रक्रिया ने शब्द के मूल अर्थ को अधिकृत और सीमित करना आरम्भ किया। प्रगति स्वचालित और स्वतन्त्र नही रही। उस पर एक विशिष्ट विचारधारा का आरोपण कर दिया गया। शब्द का मूल अर्थ इस बाह्य रोपित सिद्धान्तवाद मे घुटने लगा। सहज मानवीय अर्थ दलगत या वर्गगत स्वरूप में संकुचित होने लगा। उस अर्थ को एक लौह चौखटे मे कस दिया गया कि उसका स्वाभाविक विकास और उसकी उन्मुक्त परिणति अवरुद्ध हो जाये। आत्मानुभूति का स्थान 'वादी' नारे और प्रचार के प्रखर स्वर लेने लगे। साहित्य प्रगतिशील न रह कर प्रगतिवादी हो गया। प्रगति का चिरन्तन और सतत् विकास, शील अर्थ सीमित होने लगा। जीवन्त अर्थ-बिन्दु, आग्रह-दुराग्रह या पूर्वाग्रह के जाड्य से घिरकर सिकुडने लगा : परिधि सीमित हो गई कि इस वृत्त के भीतर जो चीजें आती हैं : स्वीकार्य और जो नही आ पातीं : अस्पृश्य और त्याज्य। थोड़े ही समय मे चिन्ता का विषय बन गई। 'वाद' के हाथों प्रगति के अर्थ की यह विडम्बना !

यह सब एक ऐतिहासिक परिवेश मे हुआ। भारत मे बौद्धिक जागरण भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की प्रथम किरण—1857—से ही आरम्भ हो गई थी। 'आर्य समाज' और 'ब्रह्म समाज' की गति-विधि और रीति-नीति बौद्धिक जागरण के उन्मेषों के ही प्रकट रूप थे। साहित्यिक क्षेत्र मे भाषा का परिवर्तन एक महान् घटना थी। सामन्तीय और विकास की सम्भावनाओं से रहित सुनिश्चित अर्थ वाली, वर्गीय रुचियो से पतित-पीड़ित और जीवन के स्पन्दनो से कटी हुई ब्रज भाषा नव जागरण के क्षणों को वाणी देने मे समर्थ सिद्ध न हो सकी। नवीन चेतना का वहन एक नवीन माध्यम को सौंपा गया। शृङ्गार की एक रस बौछारों, नायिका-भेद की रेशमी-सरणियो' अलङ्कार-ग्रन्थो के सृजन को निर्जीव परम्परा का स्थान राष्ट्रीय विचारों और देश-दुर्दशा के वर्णन ने ले लिया। पद्य की सीमाएं बिखर कर गद्य के आग्रह को साहित्य के क्षेत्र ने प्रतिष्ठा देने लगी। देश-दशा वर्णन, अतीत-गौरव जैसे विषयों ने पुराने विषयो को उपहासास्पद बना दिया। भारतेन्दु ने तत्कालीन जीवन के साथ आक्रोशमय यथार्थ को वाणी दी—

> भीतर भीतर सब रस चूसैं,
> बाहर से तन मन धन मूसैं,
> जाहिर बातन में अति तेज-
> क्यों सखि साजन ? नहिं अंग्रेज।

स्वर कितना रुद्र और व्यंग, कितना उग्र है ! उस काल की दृष्टि से सभी मानेंगे कि ये प्रगतिशील पंक्तियां हैं। प्रतापनारायण मिश्र के 'क्रान्तिमय आँसू' उस युग

राजनैतिक वातावरण और सामाजिक जीवन के ह्रास को देख कर फूट पड़े—

बहुतेरे जल द्वार-द्वार मंगन बनि डोलहिं।
तनिक नाज हित दीन वचन जेहि तेहि ते बोलहिं।।
बहुत लोग परदेश भागि अरु भागनि सकही।
चोरी चण्डाली करि बन्दी गृह पथ तकही।।
पेट अधम अनगिन तिन अकरम्-करम करावत।
दारिद दुरगन पुन्ज अमित दुख हिय उपजावत।।
यह जिय धरकत यह न होइ कहुं कोइ सुनि लई।
कछु दोष दै मारहिं अरु रोवन नहिं देई।।

'मारहिं अरु रोवने नहिं देई' में कितना व्यग्य और कितनी विवशता है! क्या इन आंसुओं का स्थान प्रगतिशील साहित्य की परम्परा में नही होगा? क्या कोई प्रगतिशील कवि इन स्वरों को नकार कर कुछ और कहेगा? बाह्यारोपण साम्राज्य सत्ता के दर्शन से साहित्य की आत्मा चीत्कार कर रही हैं। उसकी जीवन निष्ठा और आस्था जैसी टूटी जा रही हो। पर नहीं, साहित्यकार अपनी आस्था को छोडगा नही। उस आस्था और आत्मविश्वास की झलक पं० श्रीधर पाठक की निम्नलिखित पंक्तियो में है—

बन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बाधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निंदनीय वह देश, जहां के देशी निज अज्ञानी हो।
सब प्रकार परतन्त्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हो।

यहां उन कुत्तों पर भी व्यंग है जो कुछ मास टुकड़ों के लिऐ स्वामी-भक्ति—देश-भक्ति को छोड़ देते हैं। यथार्थ के कितने नवीन धरातल, भाव-बोध के कितने नवीन आयाम, सौन्दर्य-बोध की कितनी जीवन-सापेक्षता और माध्यम की कितनी प्रभाव, शील और व्यंग पूर्ण योजना भारतेन्दुकालीन साहित्य में है, जो उसे 'प्रगति' के सच्चे अर्थों का प्रनिनिधि बना देते है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह राष्ट्रीयता ही है पर पूर्व स्थितियो के सन्दर्भ मे ये प्रगति के सूचक स्तम्भ ही कहे जायेंगे।

राष्ट्रीय रङ्गमञ्च पर बाल गङ्गाधर तिलक का उदय हुआ। 'गीता रहस्य' से सक्रिय जीवन की ओर नवीन सन्दर्भ मे एक सकेत मिला। कर्म प्रधान जीवन की यह मर्यादा नवीन परिवेश में प्रगति-चिह्न ही बन गई। गाधी ने सत्य और अहिंसा के जीवन-मूल्यों के आधार पर सक्रिय जीवन को नैतिक भूमि प्रदान की। इस नैतिक भूमि की अनुभूति-पक्ष में बुद्ध, ईसा, टाल्स्टाय की भावनाएं गुम्फित थी। तिलक की दृष्टि पुनर्जागरण वाली वृत्ति को पुष्ट कर रही थीं, गांधी के सन्देश मे

प्रगति की गूंज थी। गांधी सच्चे अर्थों में प्रयोगशील थे : अहिंसा का प्रयोग राजनैतिक दृष्टि से अफ्रीका मे सफल सिद्ध हो चुका था : सत्य के प्रयोग तो उन्होंने स्वयं इतने मनोयोग से किये पर ये प्रयोग, प्रयोग के लिए नही थे : लक्ष्य था प्रगति : यह 'लघु' विशाल मानव का नवीन संस्करण था : सक्रिय और व्यावहारिक मानवतावाद का जागरण था। आगे चलकर एक धारा में आदर्श, मानववाद पनपा; अतीतकालीन आदर्श-चरित्रों मे नवीन आदर्श के संस्पर्श जगमग हो उठे। हरिऔध मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी का काव्यलोक था। पुनर्जागरण (Revivalism), रामकृष्ण, विवेकानन्द, अरविन्द और तिलक के दार्शनिक नवोत्थान को लेकर, आनन्दवाद, रहस्यवाद आदि के रूप मे साहित्यगत हुआ। इसके साथ मानवतावादी करुणा और व्यक्तिमन की कुंठा-जन्य गुत्थियां और वर्जनों से उत्पन्न ग्रंथियां सम्बन्ध हो गई। साहित्यगत निरपेक्ष आदर्शवाद और व्यापक मानवतावाद से झुंझला कर उग्र और क्रांतिमय राष्ट्रीयता, कथा के निर्मोक को छोड़-कर, स्वतन्त्र रूप से नाश और सृष्टि के गीतों या मुक्तकों के रूप में फूट पड़ी। बालकृष्ण शर्मा नवीन, सनेही, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कवि राष्ट्रीय संग्राम के सिपाही भी बने और एक विश्वास और आत्मबल के साथ अपनी अनुभूतियों को नवीन और प्रगतिशील माध्यम प्रदान किया। दिनकर ने राष्ट्रीय भावबोध को विस्तृत करके उसको मानवीय क्रांति के साथ सम्बद्ध कर दिया।

प्रगतिशील कविता का जो छोर कहीं इस ऊहापोह में भटक गया था, वह फिर से पनपा, छायावादी कवि धरती की ओर लौटा। उसे जीवन के ठोस यथार्थ आकर्षित करने लगे। 'गुलाब' के स्थान पर 'कुकुरमुत्ता' और 'पल्लव' और 'वीणा' के स्थान पर 'ग्राम्या', विषय और बोध के नवीन और प्रगतिशील स्तरों को प्रकट करते हैं। महादेवी नहीं लौटी रहस्यलोक से--लौटी अवश्य पर गद्य-पथ से। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएं' लघु परिवेशों और व्यक्ति-सापेक्ष जीवन्त सौन्दर्य बोध के क्षणों की तरलताओं से युक्त है। प्रयोगशील कविता की इस नवोत्थित पर-म्परा मे पन्त, निराला, अंचल, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नरेन्द्र, बच्चन, नीरज, आदि आते हैं। इनकी प्रगतिशील दृष्टि को नीचे का संक्षिप्त विवेचन स्पष्ट कर देता है :

प्रगति का उन तत्वों से कोई समझौता नही जो गति के पैरों मे बेड़ी बन जाय, जो गति को रुद्ध करें, जो गतिशील दृष्टि को भटकनों मे उलझा दें। मन्दिर, मजिस्द, शास्त्र सभी यदि रुढ़िबद्ध है, तो प्रगति को स्वीकार नहीं। बच्चन ने देखा और कहा—

> रक्त से सींची गई है राह मन्दिर मस्जिदों की
> किन्तु रखना चाहता मैं पांव मधु सिंचित डगर में
> हैं कुपथ पर पांव मेरे आज दुनियां की नजर मे।

पारमार्थिक सत्ता का पुराना विश्वास डगमगा गया। ठोस पदार्थ वैज्ञानिक का विषय बना और धरती के नवीन यथार्थ प्रगतिवादी की प्रेरणा के स्रोत बने। नया इन्सान जग पड़ा धरती की भूख अपनी तृप्ति चाहती है। नीरज ने वाणी दी इन सबको—

हैं कांप रही मन्दिर मस्जिद की मीनारें।
गीता कुरान के शब्द बदलते जाते हैं।
ढहते जाते हैं दुर्ग, द्वार, मकबरे, महल,
तख्तों पर इस्तपाती बादल मँडराते हैं।
अँगड़ाई लेकर जाग रहा इन्सान नया।
जिन्दगी कब्र पर बैठी बीन बजाती है।
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।

जर्जर जग जीवन को देख कर वायवी कल्पना भी तिरोहित हो जाती है। व्यक्त यथार्थ इतना प्रबल हो जाता है कि अव्यक्त की बाध्य की निस्सारता स्वयं प्रकट हो जाती है। प्रगतिशील कवि की दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु दलित-दुखी लघु मानव है। नीरज ने ब्रह्म की मिटती हुई रेखाओं की सूचना दी—

मिल जाता है जब कभी लगा सम्मुख पथ पर।
भूखे भिखमङ्गो, नङ्गों का सूना बाजार।
तब मुझको लगता है कि तुम्हारा ब्रह्म स्वयं
है खोज रहा धरती पर मिट्टी का मजार॥

बात यहीं नहीं रुकी। ब्रह्म के प्रति एक घृणा का भाव जाग्रत हुआ—

आज भी जन-जन जिसे कर-बद्ध होकर याद करते,
नाम ले जिनका गुनाहों के लिए फरियाद करते,
किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता। —अचल

वास्तव में धर्म-दस्युओं के शोषण की इयत्ता नहीं रही। धर्मदस्यु ने पहले मनुष्य के ऐहिक रूप पर एक लम्बा-चौड़ा प्रश्न चिन्ह लगा दिया : तू कौन है भोले ? और उसे उलझाते-उलझाते एक पारमार्थिक सत्ता की ओर ले गया—सब कुछ शून्य। उसने उसकी प्रत्येक भौतिक सत्ता की ओर भौतिक सांस उसके भौतिक सुख और परिवेश को मिथ्या कहा : छोड़ बावले,यह तेरा नहीं है। सत्य ईश्वर है, उसकी शरण में जा। यदि रास्ता नहीं जानता तो गुरु की शरण ले ; संघ की शरण ले। और मनुष्य भूल गया : भटक गया। उसने मन्दिर के द्वार खटखटाये, मस्जिद की किवाड़ों पर दस्तक दी। पर सब कुछ अज्ञात; केवल विश्वास्य ! धर्म की सारी व्यवस्था कालान्तर में सामन्तवादी और पूंजीवादी होती गई। इस धर्म-दस्यु ने धरती के जन को, उसके सीधे सच्चे यथार्थ से भटकाकर न जाने कितना बड़ा पाप कमाया। प्रगतिशील विचारक ने बौद्धिक जागरण के युग में इस शोषण को समझा और समस्त रूढ़ संस्थाओं

भौर निर्जीव अव्यक्तमत भावनाओं को ललकारा और नवीन धरातल पर मनुष्य को लाने का यत्न किया । रूस में यह आडम्बर क्रांति के रक्त में डूब गया । उधर वैज्ञानिक ने रक्तहीन क्रांति के द्वारा इनका अस्तित्व हिला दिया । प्रगतिशील साहित्य में यह सब सहज है : सम्प्रदाय से मुक्त ! आत्मा की सच्ची अनुभूति है ।

और फिर उद्‌बुद्ध प्रगतिचेता ने देखा शोषित को, जो हताश तथा लहू लुहान था । इतना थका कि प्रगति के नाम से कांप जाता । इतना जर्जर कि नवजागरण की किरणों का बोझ कैसे वहन करे । फूल, ज्योत्सना, उषा आदि अब उसकी दृष्टि को नहीं उलझा सकते । इन सौन्दर्य-कृतियों के प्रति अब उसकी बच्चों जैसी जिज्ञासा समाप्त हो गई । विज्ञान ने अपनी उधेड़-बुन से इन प्राकृतिक सौन्दर्य-केन्द्रों को नव-अन्वेषित यथार्थों से जकड़ दिया । अब कवि की दृष्टि में शोषित मानव के व्यथित चित्र अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ आने लगे । निराला का बदला हुआ सौन्दर्य-बोध इन पंक्तियों में अभिव्यजित है :

श्याम तन भर, बँधा यौवन
नत नयन प्रिय कर्म रत-मन
गुरु हथौड़ा हाथ
करती बारबार प्रहार !

यह 'जुही की कली' के कवि की सौन्दर्य-दृष्टि है । और यही कहीं बाजार में एक और जीव दिखलाई पड़ा जिसमें मानव का अपमान मूर्तिमान था—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता ।।

पंत ने जिस मानव का चित्र खींचा वह यह था—

कर जर्जर ऋण ग्रस्त, स्वल्प पैतृक स्मृति भू-धन ।
निखिल दैन्य दुर्भाग्य दुरित दुख का जो कारण ।।

इस शोषित मनुष्य की पृष्ठभूमि में सामाजिक वर्ग-वैषम्य है । एक वर्ग है जिससे यह मानव शोषित है । वर्ग-भेद आर्थिक आधार पर है । पूंजीपति शोषण का कारण है । प्रगतिशील कवि इन वर्गों के शोषक-शोषित सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए वैषम्य के चित्र अङ्कित करता है । इनमें क्रान्ति की प्रेरणा रहती है । इनमें

प्रकट यथार्थ क्रान्ति की सम्भावनाओं से गर्भित रहता है —

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं ।
मा की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं ।
युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं ।
मालिक जब तेल फुलेलों पर, पानी-सा द्रव्य बहाते है ।
पापी महलों का अहङ्कार देता मुझको तब आमन्त्रण ।[1]

कवि भविष्य वाणी करता है कि शोषक वर्ग अब अधिक जीवित नही रह सकता—

जग-जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन ।
अब न प्रयोजन उनका अन्तिम हैं उनके क्षण ।[2]

वर्तमान समाज के विनाश पर कवि का विश्वास जमना है—

हो यह समाज चिथड़े, चिथड़े शोषण पर जिसकी नीव पडी ।[3]

अन्त मे क्रान्ति का स्वर जग पड़ता है । क्रान्ति के अतिरिक्त समाज के शोषण का अन्त किसी प्रकार से नही हो सकता । क्रान्ति का सदेश लाल रूस से भी आता है । पर जिस प्रकार की विचारधारा प्रगतिशील साहित्य मे जाग्रत हो रही थी, उसमे भी स्वाभाविक रूप से क्रान्ति की चिनगारी छिपी है । बच्चन ने क्रान्ति संदेश दिया—

उठ समय से मोरचा ले
धूल धूसर वस्त्र मानव
देह पर फबते नही हैं
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रँगाले ।

दिनकर, अञ्चल, उदयशङ्कर भट्ट जैसे कवियों मे क्रान्ति का घोष उग्रतर होता गया है । इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य की एक प्रबल धारा बन गई । उसमें प्रगति के सभी तत्व समाविष्ट हैं । पर पारिभाषिक रूप से ये कवि न मार्क्सवादी थे और न उस राजनैतिक सम्प्रदाय की मान्यताओं से इनका व्यक्तित्व और स्वतन्त्र प्रतिभा ही क्षुब्ध है । प्रगति अपने शुद्ध रूप मे इनकी वाणी में प्रकट हुई है । हो सकता है कि प्रगतिवादी इस साहित्य-धारा को प्रगतिवादी मानने में हिचकें । वैसे रहस्यवाद, छायावाद, हालावाद जैसे काव्य-विधानों को छोड़कर कवियों का इधर मुड़ना एक स्वाभाविक विकास का सूचक है । प्रगतिवादी काव्य या उसके दर्शन पर विचार करते समय इस धारा को छोड़ा नही जा सकता ।

---

1. दिनकर
2. पंत
3. अचल

इसी धारा के साथ एक यथार्थवादी काव्य-धारा का भी उल्लेख कर देना चाहिए जिसने समाज के जलते हुए यथार्थों की प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्य मे की। यह मिथ्या दार्शनिकता, थोथे और निरपेक्ष आदर्शवाद एवं पलायनवाद की प्रतिक्रिया थी। इस धारा के कवियों ने असन्तोष, शोषण और निराशा के वे चित्र खीचे जिनसे जीवन का साहित्य में उपेक्षित अङ्ग सामने आया। यह धारा ऐतिहासिक गौरव और अतीत की स्वर्ण-संस्कृति की चकाचोध में नही भूला। वर्तमान की विद्रूपताओं को इस धारा ने स्पष्ट करना प्रारम्भ किया। कल्पना और स्वप्न के झिलमिल आवरणों को इस कवि ने चीर दिया। निरपेक्ष सौन्दर्य भावना और कल्पित आत्मानन्द के स्थान पर क्रूर और वीभत्स वस्तु-स्थिति आने लगी। इस प्रकार नवीन सवेदनाओ को इस धारा ने जगाया। शोपण के चित्रो मे क्रान्ति और प्रतिहिंसा सूचित होने लगी। विकृतियो की ओर यथार्थवादी कवि का विशेष ध्यान गया। शिव के स्थान पर अशिव रूपों की प्रतिष्ठा होने लगी। कुछ अच्छे स्कैच आए जिन्होंने एक नवीन काव्य रूप को भी जन्म दिया। इससे नवीन यथार्थ तो हमारे भाव बोध के विषय बने पर भौतिक वस्तुवाद का निरपेक्ष चित्रण कोई बहुत स्वस्थ लक्षण नहीं कहा जा सकता। मनोभाव से अलग करके वस्तुस्थिति का चित्रण साहित्यिकता से कुछ दूर पड़ जाता है। ये चित्र प्रतों जैसा आतङ्क उत्पन्न करके रह जाते हैं। खैर, इसने भी प्रगतिवाद के लिए भूमिका तैयार की और बदले हुए दृष्टिकोण को प्रकट किया।

परिस्थिति ने एक और करवट बदली। प्रथम महायुद्ध हुआ। उससे समस्त संसार आतङ्कित हो गया। इस युद्ध के अन्त होते-होते रूस की लाल क्रांति हुई। रूस की सफल लाल क्राति हुई। इस क्राति के अनन्तर मार्क्सवादी दृष्टि से जो शासन-सत्ता स्थापित हुई वह एक अभूतपूर्व स्थिति थी। एक सर्वथा नवीन व्यवस्था संसार के सामने आई। ऊपर यथार्थवादी पृष्ठभूमि की चर्चा की जा चुकी है। उसकी पृष्ठभूमि मे मार्क्सवाद का प्रभाव भारत मे भी बढ़ने लगा। वर्गहीन समाज की स्थापना और प्रोलेतेरियन शासन व्यवस्था संसार भर की जनता को प्रेरित और स्पंदित करने लगी। डारविन, कॅन्ट, हीगेल और अन्य इसी प्रकार के विद्वानों की विचारधारा उभरने लगी। सूक्ष्म से गति यथार्थ की ओर होने लगी और आत्मा से भौतिक सत्ता की ओर। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास की नवीन व्याख्या की। इस व्याख्या ने वर्ग-संघर्ष और उसके आर्थिक आधारों का क्रम-विकास स्पष्ट किया। एक ऐसी शासन-व्यवस्था की कल्पना मार्क्स की दृष्टि में भूल उठी, जो शोषित वर्गों के द्वारा संचालित होगी। समस्त रूढ़िया और परम्पराएं रूढ़ भूमिसात् होने लगी। यही दार्शनिक पृष्ठभूमि लेनिन की क्राति के पीछे थी।

हमारे राष्ट्रीय जागरण के साथ भी ये समस्याएं सम्बद्ध होने लगीं। स्वयं कांग्रेस में एक वर्ग समाजवाद के नाम से संगठित होने लगा। यह वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन में भी सहयोग देता रहा और एक वर्गहीन समाज पर भी इस वर्ग की दृष्टि जमी रही। पर राष्ट्र की जनता कांग्रेस और गांधी में पूर्ण विश्वास रखती थी। अतः समाजवादी विचारधारा सीमित हो रह गई। पर एक नवीन विचारधारा भारत में प्रविष्ट तो हुई ही।

ब्रिटिश शासन में जहां व्यापार का केन्द्रीकरण हो रहा था, वहां उद्योग का भी केन्द्रीकरण हुआ। फलतः भारत में भी श्रमिक वर्ग अपने सच्चे अर्थों में विकसित होने लगा। किसान और छोटा उपयोगी कलाकार यांत्रिक उद्योग और उत्पादन के वृद्धि-काल में मात्र मजदूर बन कर रह गया। उसका जीवन निम्नतर होने लगा। यह श्रमिक वर्ग जिन बड़े शहरों में पनपा वहां साम्यवादी विचारधारा के केन्द्र खुले। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण मजदूरों की मांग भी बढ़ने लगी : श्रम का मूल्य कम होने लगा। इससे असन्तोष भी बढ़ा और फलस्वरूप साम्यवादी विचारधारा भी अपने केन्द्रों पर सबल होने लगी।

संक्षेप में इस विचारधारा का विश्लेषण यों कर सकते हैं : मार्क्स के दर्शन के अनुसार जगत् का भौतिक रूप ही सत्य है। पदार्थ जगत् की सत्ता का प्रतिरूप ही विचार है हीगेल ने विचार को सत्य और भौतिक जगत् को उसकी प्रतिकृति के रूप में स्वीकार किया था। भौतिकवाद को द्वन्द्वात्मक पद्धति से सिद्ध किया जाता है। भौतिकवाद चेतन के ऊपर जड़ तत्त्व की सत्ता मानता है। सृष्टि के दो मूलभूत और आत्यन्तिक विषय तत्त्व परस्पर द्वन्द्वशील हैं। एक तत्त्व धनात्मक (Positive) होता है और दूसरा ऋणात्मक (Negative)। प्रथम विकासशील है और दूसरा ह्रासशील या नाशवान। इन्हीं के संघर्ष में जीवन-विकास और जगत्-गति का रहस्य वर्तमान है। वस्तु के गतिशील रूप की ही सत्ता है। वस्तु का अवस्थान या थीसिस विरोधी तत्त्वों से संघर्ष करता हुआ। प्रत्यवधान या एन्टीथिसिस की स्थिति को पहुंचता है। अन्ततः दोनों तत्त्वों में आन्तरिक सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस समन्वयात्मक स्थिति को सिन्थिसिस या सम अवस्थान कहते हैं। इस स्थिति को भी शाश्वत नहीं कह सकते। फिर विरोधी तत्त्वों का उदय हो जाता है और चक्र चलता रहता है। इस दर्शन के अनुसार परमाणु तक की सत्ता भी स्थिर नहीं है : वह भी परिवर्तनशील है। इस प्रकार सृष्टि क्रम में गतिमय बनी रहती है। गति का मूल रहस्य द्वन्द्व है।

नित्य परिवर्तन भी निरुद्देश्य नहीं है। यही वस्तु-जगत् के विकास का कारण है। प्रारम्भ की स्थिति परिमाण-वृद्धि ही गुण-वृद्धि का कारण बनती है। प्रत्येक विकास पूर्ववर्ती अवस्था का उन्नयन करता है। विकास-क्रम को सुरक्षित

ग्रौर क्रमिक रखने के लिए क्रांति भी ग्रावश्यक होती है। क्रांति मृत या मरणशील तत्वों का विनाश करती है ग्रौर विकासशील तत्वों की सत्ता के विस्तार के लिए स्थल तैयार करती है। क्रांति क द्वारा स्थापित नवीन वस्तु सत्ता परिमाण, गुण ग्रौर स्वरूप सभी में ग्रपनी पूर्ववर्ती स्थिति से विचित्र ग्रौर भिन्न होती है। विनाश ही नवीन सृष्टि की भूमिका प्रस्तुत करता है। समझौता एक भ्रम है ग्रौर ग्रसम्भव भी है। इस प्रकार साम्यवादी प्रगति समन्वयात्मक नहीं, विरोधात्मक है। वैचारिक उदारता का नही, इसमें ऐतिहासिक ग्रनिवार्यता का महत्व होता है। प्रेम ग्रौर ग्रहिंसा की ग्रपेक्षा सामाजिक संघर्ष ग्रौर क्रांति ही विकास एव प्रगति के मूल उपादान माने जाते हैं। इस प्रकार भौतिक द्वन्द्ववाद के ग्रनुसार मनुष्य की प्रत्येक धारणा एक ग्रन्तर्निहित गति से प्रवाहित होकर विपरीत धारणा में परिणत हो जाती है ग्रौर उभय धारणाए बाद मे एक उच्चतर धारणा के भीतर समन्वित हो जाता हैं। इसी प्रकार का द्वन्द्व जगत् की ग्रभिव्यक्ति में भी वर्तमान हैं। यही द्वन्द्वत्व प्रकृति ग्रौर इतिहास मे भी कार्य करने वाला है। द्वन्द्व का सारे विश्व पर ग्रधिकार हैं। सम्पूर्ण उस जगत् उसी से शासित हो रहा है। यह जड़ जगत् निरन्तर होने वाले विकासो का ग्रटूट प्रवाह है।

इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन के ग्राधार पर समाज के विकास ग्रौर व्यक्ति के सम्बन्धो का विश्लेषण किया जाता है। यही ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से प्रसिद्ध है। व्यक्ति ग्रौर समाज दोनो के ग्रस्तित्व की व्याख्या हुई। इसके ग्रनुसार व्यक्ति का ग्रस्तित्व ग्रौर व्यक्ति-चेतना पर ग्राधारित नही है। वह तो सामाजिक वस्तु है। समाज पर ही व्यक्ति की चेतना निर्भर है। व्यक्ति की रुचि, वृत्ति, प्रवृत्ति सब कुछ सामाजिक परिस्थियों से निर्धारित होती है। इस प्रकार बाह्य परिस्थितियां मानव-चेतना का नियन्त्रण करती हैं। परिवर्तनशील भौतिक परिस्थितियां समाज के स्वरूप का निर्धारण करती हैं। समाज के स्वरूप के ग्रनुसार मानव-चेतना नियन्त्रित होती है। साहित्य, कला, दर्शन-सभी भौतिक वास्तविकता के ग्रनिवार्य परिणाम हैं। उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है।

प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण समाज का कोई स्वरूप सार्वकालिक स्थायी तरत्र सत्य नहीं हो सकता। स्थायी मूल्यों की कल्पना भ्रामक है। समाज ग्रौर व्यक्ति का सम्बन्ध भी सदा एक सा नहीं रहता। समाज ग्रौर व्यक्ति की गति के केन्द्र मे ग्रर्थ है। ग्रर्थ-व्यवस्था का ग्राधार ही दर्शन, साहित्य, राजनीति को स्वरूप प्रदान करता है। ग्रर्थ-व्यवस्था, उत्पादन के स्रोत ग्रौर उपार्जन पद्धति भी सदा बदलते रहते हैं।

इस दर्शन को समाज-सापेक्ष व्यावहारिकता भी है। पूंजीपति ग्रपनी पूंजी से सम्बद्ध हो जाता है। पूंजी की रक्षा तथा ग्रपनी सत्ता को सुरक्षा के लिए वह कुछ

जाल रचता है। वह परलोक की भावना और प्रारब्ध की शरण लेता है। पूंजीपति प्रारब्ध के आधार पर अपनी स्थिति को निर्दोष घोषित करता है। ईश्वर की कल्पना का मूल भी इसी प्रकार की पूंजीवादी मनोवृत्ति में है। पूंजीवाद सम्पत्ति के दोषपूर्ण वितरण और विभाजन का परिणाम है। सम्पत्ति का विभाजन व्यक्ति पर नहीं, उसकी सामाजिक उपयोगिता और आवश्यकता पर आधारित होना चाहिए। सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं समाज का नियन्त्रण होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति का नियन्त्रण पूंजीवाद को जन्म देता है। पूंजीवाद एक श्रमिक वर्ग को भी जन्म देता है। पूंजीपति इस वर्ग की आन्तरिक कौशल और शारीरिक शक्ति का शोषण करता है। श्रमिक पूंजीवाद के द्वारा दिए गए झूठे प्रलोभनों में फंस कर अपने स्वास्थ्य, उम्र और जीवन-स्तर को खो बैठता है। जनसंख्या की वृद्धि श्रम का अवमूल्यन करती है। श्रमिक निम्न से निम्नस्तर होता जाता है और चतुर्दिक असन्तोष और क्रांति की लपटें। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष जटिल से जटिलतर होता जाता है और आहत और उत्पीड़ित श्रमिक क्रांति की शरण में जाता है—प्राण और रक्त।

साहित्य भी इस दर्शन और विचारधारा से प्रभावित होने लगा। वास्तव में यह प्रभाव पहले इटली में दिखलाई पड़ता है। मारिनेत्ति और उसके अनुयायियों में प्रगतिवादी सिद्धान्त पनपते गए। पीछे शाखाएं भी हुईं। छन्द के बन्धन और व्याकरण का उल्लंघन भी निश्चिन्त होकर किया जाता था। 'फार्मेलिज्म' की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यथार्थवाद की स्थापना हुई। फ्रांस में फार्मेलिज्म की प्रतिक्रिया 'नेचुरलिज्म' के रूप में हुई। लाल क्रांति के पूर्व के साहित्यकार स्वेच्छा और स्वतन्त्रता से अपने कर्म में निरत थे। क्रांति के बाद राजनैतिक उद्देश्य के लिए साहित्य माध्यम बन गया। इसका कार्य मार्क्सवादी विचारधारा का पोषण और प्रचार हो गया। 1930 का लगभग अंग्रेजी साहित्य भी इस विचारधारा से प्रभावित हुआ। डब्ल्यू. एच. आडेन, सेसिल, डेलेविस आदि ने दलित वर्ग के जीवन-तथ्यों का आकलन किया।

भारतीय साहित्य-चिन्तन भी साम्यवादी प्रभाव से मुक्त न रह सका। प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित हुआ। प्रेमचन्द की प्रतिभ साधना की गति 'गोदान और 'मङ्गल सूत्र' में बदली। इनमें समझौते, या आदर्शवादी समन्वय की छाया छूट गई। निरन्तर संघर्ष की भावना इनमें विद्यमान है। इस प्रकार प्रगतिवादी आन्दोलन साहित्य के क्षेत्र में आरम्भ हुआ। एक ओर तो इसने थोथे आदर्शवादी इतिवृत्तों तथा द्विवेदी युगीन निरपेक्ष नैतिकता का विरोध किया, फैशनेबल रूमानी प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिक्रिया की। इस विचारधारा के प्रभावों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया जा सकता है :

1. किसान, मजदूर और सर्वहारा वर्ग की गतिविधि, उसकी समस्याएँ और जीवन के यथार्थ साहित्य की विषय-वस्तु की योजना करने लगे।

2. वैज्ञानिक ग्रास्था ग्रौर बौद्धिक चेतना को साहित्य-साधना से सम्बन्द्ध किया गया। सामन्तवादी मान-मूल्य धराशायी हुए ।

3 मनुष्य को धर्म, संस्कार, जाति, नस्ल सभी के तत्वो से निकाल कर सिर्फ मनुष्य के रूप मे स्वीकार किया गया।

4. धर्म, परलोक, ईश्वर ग्रौर ग्रन्य इसी प्रकार की संस्थाग्रों की ग्रनिवार्य बिदाई दी गई : विज्ञान के ग्राधार को स्वीकृत किया गया।

5. रूप-गठन ग्रौर शैली-शिल्प मे भी एक परिवर्तन लाया गया : सब कुछ ग्रशास्त्रीय, सहज ग्रौर लोक जीवन के समीप ग्राने लगा।

6. ग्रन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हुग्रा।

7. विद्रोह, क्रान्ति ग्रौर विनाश के स्वर प्रबल हो गये। उद्देश्य था सर्वहारा वर्ग को ग्रपनी शक्ति से ग्रवगत कराना, उसे नव जीवन-चेतना देना ग्रौर ग्रन्ततः उसकी सत्ता की प्रतिष्ठा करना।

इन प्रभावों की सघनता ने एक साहित्यिक मंच की स्थापना की। प्रेमचन्द ने इस विचारधारा को प्रश्रय दिया। सन् 1936 मे प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति के रूप में उन्होंने जो भाषण दिया, उसमें प्रगतिवाद के भावी रूप की व्यञ्जना होती है। साहित्य के उपयोगितावादी पक्ष पर भी इस भाषण में बल दिया गया। कालाकांकर से प्रकाशित 'रूपाभ' [सम्पा. पन्त एवं नरेन्द्र] मे प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध मे ग्रनेकानेक विचार प्रस्तुत किये गए। 1941 में 'हंस' का प्रकाशन हुग्रा। इसने इस ग्रान्दोलन की पुष्टि की ग्रौर विचार-धारा का दृढ़ता से प्रचार किया। पंत जैसे सौन्दर्य ग्रौर कल्पना जीवी कवि प्रगति के क्षेत्र मे उतरते दिखलाई पड़े। 'युग-वाणी' में पंत जी ने मार्क्स का गुणगान किया—

> धन्य मार्क्स चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
> तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयङ्कर ।

ग्रौर नरेन्द्र शर्मा ने कहा—

> लाल रूस है ढाल साथियों, सब मजदूर किसानों की
> यहां राज है पंचायत का, वहां नहीं है बेकारी ।
> लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
> दुश्मन है सब मजदूरो का, दुश्मन सभी किसानो का।

सामन्तवादी शोषण का विरोध करने वाले या पूंजीवाद के प्रति विद्रोह करने वाले साम्यवाद का कृषि-प्रधान देशों के लिए क्या महत्व है, यह ग्रधिक स्पष्ट नही था। चीन क्रान्ति से इस ग्रान्दोलन की उपयोगिता कृषि-प्रधान देशों के लिए भी स्पष्ट हो गई।

साम्यवादी साहित्य-शास्त्र पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। इस विचार-धारा में 'कला कला के लिए' का कोई स्थान नहीं है। कला जीवन की ही उपज है : उसका उद्देश्य उसी के साथ संलग्न है। यही साहित्य का उद्देश्यवाद है। एक प्रकार से विशुद्ध कलावाद के प्रति प्रगतिवाद ने एक प्रतिक्रिया की। विशुद्ध कलावादियों के अनुसार रूपगत सौन्दर्य (Beauty of form) के अतिरिक्त कला का अन्य कोई लक्ष्य नहीं है। इस मत का मूलाधार दार्शनिक आदर्शवाद या कान्ट के सौन्दर्य दर्शन में है। कान्ट के अनुसार सौन्दर्यानुभूति के मूल में वह पक्षपात शून्य आनन्द है जो विशुद्ध रूप में पाया जाता है। गोतिए ने इस मत को पुष्ट किया था। गोतिए ने एक बार कहा था : "मुझे यदि केवल रैफेल (Raphael) का एक चित्र अथवा कोई नग्न सुन्दरी देखने को मिल जाय तो एक फ्रांसीसी और नागरिक के रूप में मैं मेरे जो अधिकार हैं, उन्हें भी मैं आनन्द के साथ छोड़ सकता हूं।" इस प्रकार की तरल विचार सरणियों का प्रगतिवाद ने सशक्त विरोध किया। इस प्रकार साहित्यिक उद्देश्यवाद में प्रगतिवाद का दृढ़ विश्वास है।

साहित्य का आधार मानव-जीवन है। जीवन अजस्र है। अतः साहित्य के उप-करण कभी समाप्त नहीं हो सकते। जीवन साहित्य के लिए नहीं है और न साहित्य साहित्य के लिए है : वह तो जीवन के लिए है। जीवन स्थिर नहीं, गतिशील है। इस गतिशीलता के कारण जीवन नए रूप ग्रहण करता है : पुराने युग की कब्र बनती है : नव जीवन का जन्मोत्सव मनाया जाता है। साहित्य भी युग और जीवन के रूप-विकास के साथ नवीन रूप धारण करता चलता है। साहित्य जीवन का मात्र दर्पण नहीं स्वयं जीवन ही है।

साहित्य के लिए प्रगतिशीलता कोई नई वस्तु नहीं है : जीवन के पूर्व रूपों से बँधे साहित्य की दृष्टि से नया साहित्य प्रगतिशील होता ही है। परम्परा को नया बनाना साहित्य का धर्म है। प्रगति और नवीनता में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जब नवीनता नवीनता के लिए हो जाती है, तो साहित्य अपने नाश की योजना करता है। नवीनता मङ्गलोन्मुख होनी चाहिए। पुराने उपादानों को भी साहित्यकार की प्रतिभा का जादू नया बना सकता है। प्रयुक्त उपादानों का इतना महत्व नहीं जितना उस दृष्टि का जिससे कलाकार उनकी नवीन संयोजना करता है।

प्रगतिवादी साहित्य किसी शाश्वत जीवन-सत्य में विश्वास करके नहीं चलता। इसीलिए वह किसी स्थायित्व में भी आस्था नहीं रखता। साहित्य साध्य नहीं, साधन है। वह मानवीय मूल्यों और वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों में एक आमूल परिवर्तन लाना चाहता है। यह परिवर्तन भी एक क्रमिक विकास के द्वारा नहीं होता, यह एक सोद्देश्य सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति के द्वारा लाया जाता है। यह श्रेणी संघर्ष की कर्मधारा के अनुसार घटित की जाती है। इसके मूल में वर्तमान व्यवस्था के प्रति

एक असन्तोष रहना है। असन्तोष उसे समझौते की प्रेरणा नहीं देता : निरन्तर क्रान्ति का संकल्प प्रदान करता है। साहित्य इस असन्तोष और क्रान्ति को उग्र स्वर और दृढ़ संकल्प प्रदान करता है। साहित्य का कार्य है कि असन्तोष को व्यक्ति स्तर से निकाल कर सामाजिक स्तर पर स्थापित करे और विद्रोही आन्दोलनों के लिए भाव-भूमि प्रस्तुत करे। इस प्रकार क्रान्ति की छोटी-छोटी चिनगारियों को एक सामूहिक जन-ज्वाला का रूप साहित्यकार देता है वही साहित्य प्रगतिवादी कहा जा सकता है।

प्रगतिवाद का लक्ष्य सामाजिक यथार्थ के उग्र चित्रण से परिवर्तन की शक्तियों को बल देना है। इस साहित्य-दर्शन के अनुसार रस का स्वरूप भी भिन्न होता है। 'रस' यहां वैयक्तिक नहीं, सामूहिक है। इसका उस रस में विश्वास नहीं जो निष्क्रिय हो : स्वार्जित जीवन-अनुभूति के आधार से परे हो : जो निवृत्ति की अवसाद पूर्ण मनःस्थिति पैदा करे। प्रगतिवाद उस रस का पक्षपाती है जो एक सजीव और सशक्त सामाजिक अनुभूति और जीवन के भावबोध पर आधारित होता है। वह एक विराट् विश्वबोध का ही पर्याय है। "प्रगतिवादी साहित्य में रस की उद्भावना, रसानुभूति का उद्रेक, उस जीवन-स्थल पर होता है जहां मानव केवल जीने के लिए जीवित नहीं रहता, वरन् वह अपने अनुभवों को चुनचुन कर उनका विश्लेषण करता है और इस विश्लेषण के फलस्वरूप अपने भविष्य के अनुभवों को अधिक सुखद बनाने की चेष्टा करता है। यहां सुखद शब्द का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में किया जा रहा है।"[1]

रस की योजना की आधारभूमि बौद्धिक ही होगी। बौद्धिकता भावुकता को संयमित करती हुई उसे सार्वभौमिकता प्रदान करती है। पर बौद्धिकता का मात्र प्रदर्शन या नकल घातक भी होती है। जीवन की व्याख्या स्वच्छ बौद्धिकता ही कर सकती है। अनुभूतियों का बौद्धिकीकरण कोरी भावुकता को समाप्त कर देता है। विज्ञान ने जीवन की व्याख्या की एक पद्धति दी है। साहित्य में भी जीवन की बौद्धिक व्याख्या अनुभूतियों के सहारे प्रविष्ट होती है। कोरी भावुकता से जो विकृतियां उत्पन्न होती हैं, बुद्धिवाद उनका परिष्कार कर देता है।

प्रगतिवाद का यथार्थ से गठबन्धन है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी यथार्थ के नाम पर अश्लील, कुत्सित और कुरुचि पूर्ण चित्रण होता है। इस प्रकार के चित्रणों में साहित्यिकता नहीं रहती। प्रगतिवाद में यथार्थ एक गतिशील शक्ति है। यथार्थ, प्रगति की दृष्टि से साध्य नहीं, साधन है। यथार्थ का चित्रण सामाजिक अनुभूतियों को तीव्रता प्रदान करता है। समस्या को नुकीला भी यथार्थ ही बनाता है। यथार्थ के चित्रण के पीछे स्वस्थ जीवन-विश्लेषण का क्रम रहना चाहिए। यथार्थ

---

1. श्री अंचल : आधुनिक हिन्दी साहित्य, भाग 2, पृ० 91

का चित्रण संकेतपूर्ण होना चाहिए। हमें उन सामाजिक विद्रूपों के कारणों की खोज ग्रौर उन्हें मिटा देने की सक्रिय प्रेरणा मिलनी चाहिए। यथार्थ चित्रण की उच्छृखलता ग्रौर उद्देश्यहीनता का समर्थन बड़े से बड़ा प्रगतिवादी भी नहीं कर सकता। यथार्थ का लक्ष्य है समाज के परिवेश में व्यक्ति की स्थिति, उसकी समस्याओं ग्रौर उसकी क्रांति-क्रियाग्रों को स्पष्ट करना। यथार्थ के चित्रण के लिए उन परिस्थितियों को लेना चाहिए जिनमें मनुष्य की संघर्षशील प्रवृत्ति को जाग्रत करने की शक्ति है।

साहित्य शून्य में उत्पन्न नहीं होता। वह परिस्थितियों की देन है। मार्क्स के ग्रनुसार साहित्य का समाज भी ग्रर्थ-व्यवस्था एवं उत्पादन के तरीकों से ही नियमन होता है। रचनाकार भी किसी-न-किसी सामाजिक वर्ग से सम्बन्धित होता है। वह ग्रपने वर्ग की प्रकृति ग्रौर चेतना से विच्छिन्न नहीं हो सकता। ग्रपने वर्ग की मनोवृत्ति की ग्रभिव्यक्ति रचनाकार ग्रपनी कृति में करता है। ग्रतः उसे पूर्ण निरपेक्ष मानना या निर्वैयक्तीकरण की चेष्टा करना प्रगतिवादी की दृष्टि में एक भ्रम है। इस वर्ग के माध्यम से समाज की ग्रर्थ-व्यवस्था साहित्य का नियमन करती है। मार्क्स-साहित्य की समाज निरपेक्ष सत्ता को लेकर नहीं चलता।

श्रेष्ठ साहित्य समसामायिक सामाजिक जीवन के प्रति प्रबुद्ध ग्रौर जागरूक रहता है। यथार्थ के चित्रण के द्वारा वह कभी तो परम्परा का विरोध करता है ग्रौर कभी प्रगतिमय क्रांति का समर्थन। साहित्य के ऐसे कोई ग्रान्तरिक गुण नहीं होते जिनके कारण साहित्य को श्रेष्ठ कह दिया जाय। वह कवि के प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण ही श्रेष्ठ कहला सकता है। ग्रपने प्रयोजन ग्रौर उद्देश्य की श्रेष्ठता ही माध्यम को श्रेष्ठ बना सकती है। संक्षेप में इसको उपयोगिता कहा जा सकता है।

कुछ ग्रालोचक प्रगतिवाद मान्य मानवतावाद को ग्रधूरा मानते हैं। कारण यह है कि प्रगतिवाद एक वर्ग के प्रति ग्रपने दायित्व को मानता है। सम्पूर्ण मानव वर्ग-भावना के कारण उसकी दृष्टि से ग्रोझल हो जाता है। पूंजीवादी या सामन्तवादी वर्ग की यथार्थताएं इस कवि को ग्राकर्षित नहीं करती। ग्रतः वर्गों के परस्पर वर्ग से सम्बद्ध सम्बन्धों का भी उद्घाटन नहीं हो पाता। उसके भीतर एक पूर्वाग्रह प्रबल होता है।

संक्षेप में यही प्रगतिवादी साहित्य-दर्शन की रूपरेखा है।

पर 'वाद' इस धारा के सारतत्त्व को चर गया। ग्रन्त में भारतीय प्रगतिवाद एक राजनैतिक सम्प्रदाय का प्रचार-यंत्र बन कर रह गया। ग्रपनी वस्तुपरकता में यह दलगत दलदल में फंस गया। बहिर्जगत् के प्रतिवादी रूप ने व्यक्ति के ग्रन्तर्जगत् को इतना क्षुब्ध कर दिया कि प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक हो गया। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ग्रौर व्यक्तिनिष्ठा प्रबल होने लगी। 'बच्चन', 'ग्रंचल' जैसे प्रगतिशील कवियों में से

रूढ़िवादी प्रगतिवादी सम्प्रदाय का विश्वास उठ गया। वैसे प्रगतिवादी की कुछ ऐतिहासिक देनें तो हैं : इसने आदर्श मानववाद या महामानववाद को रोका। छायावादियों की वायवी, वैयक्तिक और रहस्यमयी सौन्दर्य-कल्पनाओं और भावों की तरलताओं के प्रति एक सशक्त प्रतिक्रिया उत्पन्न की। प्रगतिवाद ने बौद्धिक तत्त्व को दृढ़ता के साथ पकड़ कर आगे की भूमिका प्रस्तुत की। विषय-वस्तु और शिल्प एक लाक्षणिक स्वर्णजाल से निकलकर, यथार्थ धरातल पर आए। यह सब प्रगतिवादी आन्दोलन ने किया। डा. रामविलास शर्मा ने प्रगतिशील लेखक संघ की व्याख्या भी इस रूप में की है कि वह देश-विरोधी न लगे और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि में राष्ट्रीयता घुलमिल न जाय। उन्होंने कहा : "प्रगतिशील, साहित्य राष्ट्रीय स्वाधीनता, शान्ति और जनतंत्र के लिए संघर्ष का साहित्य है।... प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद, सामन्तवाद की संस्कृति को निकालने के लिए संघर्ष करता है।....प्रगतिशील साहित्य विभिन्न भाषावादी इलाकों की जनता में एकता कायम करता है। और उनकी आपसी मित्रता और भाईचारे को दृढ़ करता है।....प्रगतिशील साहित्य 'विज्ञान से प्रेम' और 'कला जनता के लिए' इन दो सिद्धान्तों को मिला कर चलता है। ... प्रगतिशील साहित्य जनता की सेवा करने वाले तमाम साम्राज्य-विरोधी और सामन्तविरोधी लेखकों की एकता को दृढ़ करने से विकसित होता है।" इन घोषणाओं की लकीरें बड़ी स्वच्छ है। पर जितनी स्वच्छ ऊपर से है, उतनी भीतर से नहीं। न जाने घुन कहां था कि पेड़ गिर गया। सम्भवतः 'वाद' से द्योतित सम्प्रदाय-निष्ठा ही इसके पतन का कारण बन गई। धीरे-धीरे इससे सम्बद्ध कवि किनारा करने लगे। बाह्यारोपित मतवाद इसके जीवन स्रोतों को सुखाने लगा। इसका विकास धीरे-धीरे एकाङ्गी हो गया : संकीर्णताओं से जर्जर दिशा कि ओर इस विकास-क्रम का मुख था। इसने मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करके वर्गीय मूल्यों में आस्था को दृढ़ करना चाहा। नियन्त्रण इतना कड़ा होता गया कि सन् 1943 और 50 के बीच प्रगतिशील लेखक स्वयं अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों के प्रति संदिग्ध हो गया : उसका आत्मविश्वास जर्जर हो गया। एक शब्द का प्रयोग करके प्रगतिवादी सोचता था कि कहीं वह एक निश्चित फ्रेम से बाहर तो नहीं रेंग रहा। नियन्त्रण की इस जटिलता में समस्त अभिव्यक्ति-विधान जड़ और आडम्बरपूर्ण हो गया।

'ग्राम्या' और 'युगवाणी' का परिवर्तित कलाकार अरविन्द के दर्शन की शरण में फिर से चला गया। 'बच्चन' ने भी रूप बदला....स्वच्छन्द गीतों और लोकधुनियों में जैसे इस हताहत को उन्मुक्ति मिली हो। कुछ प्रगतिवादी राष्ट्रीयता की ओर झुक गये—चीन के आक्रमण ने वातावरण बदल दिया। मुख्य प्रगतिवादी कवि 'तार सप्तक' के कवि बन गए। वे जिस लौह नियन्त्रण और अनुशासन से ऊब गए थे, उसकी निष्कृति 'तार सप्तक' के वातावरण में मिली। 'तार सतप्क'

की भूमिका के ये शब्द वातावरण की उन्मुक्ता को स्पष्ट करते है:"तार सप्तक मे सात कवि संग्रहीत हैं। सातों एक दूसरे से परिचित हैं—बिना उसके इस ढङ्ग का सहयोग कैसे होता ? किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट्ट अथवा दल के सदस्य या समर्थक नहीं हैं—उनमे मतैक्य नही है, सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है ...काव्यवस्तु और शैली के छन्द और तुक के, कवि के दायित्वो के, प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।" इससे वातावरण की मुक्तता स्पष्ट प्रकट हो रही है। इस वातावरण को ओर स्वतन्त्र चेता प्रगतिशील कवि मुड गए। समाज से आहत व्यक्ति की निष्ठा और उसका सौन्दर्य इसे आकर्षित करने लगा। इस प्रकार प्रगतिशील कवियों का दल बिखर गया। गाधीवाद की विजय ने भी इनको तितर-बितर कर दिया : चीन के आक्रमण ने अन्तिम धक्का दिया।

प्रगतिशील कवि नवीन 'प्रयोगों' मे लगा। प्रयोग का विरोध प्रगतिवादी आलोचक ने किया : पर उसकी पीठ पर चढ कर प्रयोगवाद आ ही गया।

---

३. मूल्यांकन के प्रतिमान

३.१ पश्चिम में

आधुनिक युग का आरम्भ सर फिलिप सिडनी से माना जा सकता है। इन्होंने काव्य को कई आक्षेपों से बचाने की चेष्टा की। कविता के विषय में यह विचार चल पड़ा था कि कविता से अनाचार और अनैतिकता का विस्तार होता है। कथित सुधारवादियों के इस आक्षेप का उन्होंने दृढ़ता से उत्तर दिया। प्लेटो के आक्षेप के सम्बन्ध में इन्होंने कहा कि उनका आक्षेप केवल अनैतिक साहित्य पर है। साथ ही उन्होंने काव्य की सामाजिक उपयोगिता की भी स्थापना की जिससे मनुष्य सभ्य और सुसंस्कृत बनता है। यह 16वीं शती की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधि लेखक है।

सत्रहवीं शती में ड्राइडन का व्यक्तित्व सबसे आकर्षक है। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में कई सिद्धान्त स्थापित किए। कुछ सिद्धान्त इस प्रकार है : कवि का कार्य जीवन को उसके स्वाभाविक रूप में ही चित्रित करना है। उसका लक्ष्य आनन्द प्रदान करना होना चाहिए, शिक्षा देना नहीं। कवि-कर्म में कल्पना का महत्व भी इन्होंने आंका। परन्तु अरस्तू के संकलन-त्रय के निर्वाह को आवश्यक नहीं माना। इस प्रकार ड्राइडन ने अनेक पुरानी मान्यताओं को अमान्य ठहराया और काव्य के सम्बन्ध में स्वस्थ सिद्धान्तों की घोषणा की।

अठारहवीं शती में पोप, जान्सन, लेसिंग, शिलर और गेटे जैसे विचारक हुए। पोप ने पुराने सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण असहिष्णुता तो व्यक्त नहीं की, फिर भी अपना नवीन दृष्टिकोण उन्होंने स्थापित किया। कविता में सौन्दर्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा : "प्रकृति की भांति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है, उसके पृथक्-पृथक् अङ्ग-प्रत्यङ्गों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आंख अथवा अधर को सौंदर्य की संज्ञा नहीं देते—सौदर्य उन सब को सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परि-

---

1. पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त, पृ. 116-117

करना होता है। "वस्तुतः मैं तो उन्हीं विषयों के चयन का परामर्श दूंगा जिस पर पहले कार्य हो चुका हो।"...हमारे अधिकांश युवा लेखकों में इसके सिवाय कोई दोष नहीं कि उनका आत्मतत्त्व महत्त्वपूर्ण नहीं होता।'[1]

शिलर ने सौंदर्य-सिद्धान्तों के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या की। इस युग के अन्य लेखकों की भांति इन्होंने भी प्राचीन और नवीन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया। उन्होंने दोनों युगों की परस्थितियों की तुलना करते हुए लिखा है : "प्राचीन यूनानियों की बात सर्वथा भिन्न थी। उनके समय में सभ्यता का ह्रास नहीं हुआ था, न वह प्रतिवादिता की ऐसी सीमा तक पहुंची थी कि प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद आवश्यक हो जाता। उनके सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण ढांचा किसी कृत्रिम अवधारणा में विश्रान्ति न पाकर भावनाओं में या कला-कृति में विश्रान्ति पाता था। अतः यदि यदि वे मनुष्य से बाहर प्रकृति को देखते थे तो उनके लिए आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण न होता था और न उन्हें किसी ऐसे माध्यम की आवश्यकता का अनुभव होता था जिसके द्वारा वे प्रकृति का पुनः अन्वेषण कर सकें।"...लेकिन हम अपने आप में सामञ्जस्य नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं, उनसे हम असन्तुष्ट है। अत. हम उससे दूर भागने के अतिरिक्त कोई रुचि उसके प्रति नहीं रख पाते - हम तो उस अपरूप आकार को अपनी दृष्टि से दूर ही रखना चाहते हैं।"[2] इस प्रकार जर्मन विचारकों ने साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं पर परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया।

19वीं शती से पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में बौद्धिकता का विशेष रूप से आवागमन हुआ। मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व और सम्बन्धों पर नया विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। साहित्य में विविध वादों का प्रवर्तन 19वीं और 20वीं शती में मिलता है। इन वादों पर सक्षेप में विचार किया जा सकता है। 19वीं शती में स्वच्छन्दतावाद का बोलबाला रहा। बीसवीं शती में कलावाद, अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्लेषणवाद प्रगतिवाद, आदि का जन्म हुआ। इन वादों ने साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर भी विचार किया। फलतः अनेक भ्रान्तियों ने भी जन्म लिया और समीक्षा के क्षेत्र में एक सीमा तक अराजकता [illegible]ी आ गई। इस काल में मूल्यों की संक्रान्ति तो मिलती है, पर उनको पूर्ण [illegible] अभाव है। इन शताब्दियों के कुछ प्रमुख वाद संक्षेप में निम्न प्रकार है :

[illegible]ाद : स्वैरवाद :

[illegible]ntcisim) रोमांटिसिज्म शब्द के लिए हिन्दी में स्वच्छन्दता-

[illegible] पृ. 126

णाम की संज्ञा है ।"[1] पोप के अनुसार काव्यानन्द का आधार भाव-व्यञ्जना ही है । "... ऐसी कविताओं पर जिनमें न ज्वार आता है, न भाटा; जो शुद्ध होते हुए भी भाव-विहीन हैं : जो एक ही रीति से मन्द-मन्द प्रवाहित होती हैं; जो दोषों में बचती हुई एक ही बँधी-बँधाई गति अपनाये रहती है—हम उन पर दोष भले न लगायें, परन्तु (उससे ऊब कर) सो तो सकते हैं ।"[2] सहजता की बात कहते हुए भी पोप ने काव्याभ्यास का समर्थन किया । पोप की दृष्टि कुल मिलाकर समन्वयवादी कही जा सकती है ।

डा. जानसन का व्यक्तित्व बड़ा सशक्त था । उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों की नई तर्क सम्मत व्याख्या की । उनके अनुसार साहित्य में जब सामान्य मानव-स्वभाव का उद्घाटन होता है तो दर्शक पाठक उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करते है।[3] उन्होंने काव्य के उद्देश्य में आनन्द और शिक्षा दोनों को रखा । प्राचीन और नवीन में भी उन्होंने समन्वय किया । उनके मत का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है : "लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परम्परा में भेद करना होना चाहिए—अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ही उपयुक्त है । इन दोनों का भेद उसे हृदयङ्गम कर लेना चाहिए जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को—जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था—तोड़ने के अनावश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आये हुए सौंदर्य का समावेश करने से विमुख हो ।"[4] साथ ही जॉनसन ने त्रासदी-कामदी के सम्बन्ध में प्रचलित मतों का भी खण्डन किया ।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक सर्जक भी थे । लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किये । गेटे ने काव्य के विभिन्न पक्षों पर विचार किया और काव्य-रूपों का वर्गीकरण किया । गेटे ने क्लासिकल साहित्य का समर्थन किया । उसे उन्होंने स्वस्थ और आनन्ददायी माना । उनकी दृष्टि में रोमांटिक काव्य रुग्ण, दुर्बल और विकृत है । उनके अनुसार परम्परागत या ऐतिहासिक विषय वस्तु ही अधिक उपयुक्त होती है । कल्पित सामग्री उतनी उपयुक्त नहीं रहती । "उपलब्ध सामग्री के आधार पर सारा कार्य सहज ही और अच्छे ढङ्ग से निष्पन्न हो जाता है । तथ्य और चरित्र उपलब्ध हों तो कवि को केवल उनमें प्राण-संचार

1. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ. 102
2. वही ।
3. शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के सिद्धान्त पृ. 100
4. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ 118

करना होता है। '"वस्तुत मैं तो उन्ही विषयों के चयन का परामर्श दूंगा जिन पर पहले कार्य हो चुका हो।""हमारे अधिकांश युवा लेखकों में इसके सिवाय कोई दोष नहीं कि उनका आत्मतत्व महत्वपूर्ण नही होता।'[1]

शिलर ने सौंदर्य-सिद्धान्तो के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या की। इस युग के अन्य लेखकों की भांति इन्होंने भी प्राचीन और नवीन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया। उन्होंने दोनो युगो की परिस्थितियो की तुलना करते हुए लिखा है : "प्राचीन यूनानियों की बात सर्वथा भिन्न थी। उनके समय मे सभ्यता का ह्रास नहीं हुआ था, न वह प्रतिवादिता की ऐसी सीमा तक पहुंची थी कि प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद आवश्यक हो जाता। उनके सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण ढांचा किसी कृत्रिम अवधारणा मे विश्रान्ति न पाकर भावनाओं में या कला-कृति मे विश्रान्ति पाता था। अतः यदि यदि वे मनुष्य से बाहर प्रकृति को देखते थे तो उनके लिए आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण न होता था और न उन्हे किसी ऐसे माध्यम की आवश्यकता का अनुभव होता था जिसके द्वारा वे प्रकृति का पुनः अन्वेषण कर सकें।"' लेकिन हम अपने आप मे सामञ्जस्य नही रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं, उनसे हम असन्तुष्ट है। अतः हम उससे दूर भागने के अतिरिक्त कोई रुचि उसके प्रति नही रख पाते - हम तो उस अपरूप आकार को अपनी दृष्टि से दूर ही रखना चाहते हैं।"[2] इस प्रकार जर्मन विचारकों ने साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं पर परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य मे विचार किया।

19वी शती से पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र मे बौद्धिकता का विशेष रूप से आवागमन हुआ। मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व और सम्बन्धों पर नया विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। साहित्य मे विविध वादों का प्रवर्तन 19वी और 20वी शती में मिलता है। इन वादों पर सक्षेप मे विचार किया जा सकता है। 19वी शती मे स्वच्छन्दतावाद का बोलबाला रहा। बीसवीं शती मे कलावाद, अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्लेषणवाद प्रगतिवाद, आदि का जन्म हुआ। इन वादों ने साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर भी विचार किया। फलतः अनेक भ्रान्तियों ने भी जन्म लिया और समीक्षा के क्षेत्र मे एक सीमा तक अराजकता सी भी आ गई। इस काल में मूल्यों की संक्रान्ति तो मिलती है, पर उनकी पूर्ण स्थापना का अभाव है। इन शताब्दियों के कुछ प्रमुख वाद संक्षेप मे निम्न प्रकार है :

स्वच्छन्दतावाद : स्वैरवाद :

अंग्रेजी के (**Romantcisim**) रोमांटिसिज्म शब्द के लिए हिन्दी मे स्वच्छन्दता-

---

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा पृ. 126
2. वही पृ. 135-136

वाद प्रयुक्त होना है। पर कुछ लोग यह कहते हैं कि यह शब्द रोमांटिसिज्म की समस्त प्रवृत्तियां और विशेषताएं प्रकट करने में समर्थ नही है। अतः रोमांटिक शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए।

वस्तुतः रोमान्टिसिज्म एक विशेष प्रवृत्ति है। प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी रूप मे यह प्रवृत्ति मिलती है। इसकी चर्चा ने योरुप मे विशिष्ट रूप धारण किया। वहा इससे द्योतित कविता का युग सन् 1798 से 1832 तक माना जाता है। इस वाद का जन्म आभिजात्य साहित्य के विरोध मे हुआ। इस प्रवृत्ति से सम्बद्ध प्रमुख कवि वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन और काउपर है। इस वाद का सम्बन्ध फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से भी जोड़ा जाता है। इसके प्रवर्त्तक के रूप में रूसो की प्रसिद्धि है। इस प्रवृत्ति ने योरुप के सामान्य जीवन को बहुत प्रभावित किया।

आभिजात्य का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ-अद्वितीय-गम्भीरतम। सामन्तवादी व्यवस्था मे अभिजात वर्ग समाज का कुलीन और उच्चतम वर्ग माना जाता है। इस वर्ग में प्रायः धनिक या राजपरिवार ही आते हैं। सर्वप्रथम ईसा की दूसरी शती में लातीनी वैयाकरण औलस जेलियस ने 'अभिजात' शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण और उत्कृष्ठ लेखक के लिए किया था। रूढ़ रूप में इस शब्द का प्रयोग यूनान और रोम के साहित्य के लिए होता था। इस वर्ग के विचारकों की एक धारणा बद्धमूल है : जो साहित्य-सृष्टि देश-काल की सीमाओं से मुक्त मानव-मन की शाश्वत संवेदनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करती है, वही आभिजात्य या क्लासिकल होती है। सामान्यतः इसी धारणा का विरोध रूसो ने किया और एक विशाल क्रांति की भूमिका उपस्थित हुई। रोमान्टिसिज्म भी प्रायः इसी आभिजात्यवाद की प्रतिक्रिया मे आया।

रोमान्टिक विचारको ने साहित्य के क्षेत्र में रूढ़िवादिता, शास्त्रवादिता, नियमबद्धता, विचारात्मकता एवं पूर्वाभ्यास की पद्धति का विरोध किया। नवीनता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सहजता की प्रतिष्ठा हुई। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है : "रोमैंटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमे कल्पना के अविरल प्रवाह से संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार निविड़ आवेग और कल्पना का अविरल प्रवाह दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तिया ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।" लेबो और कजामिया की परिभाषा का सार यह है : "स्वच्छन्दतावादी काव्य वह काव्य है जिसमे उस भावुकतामय जीवन को प्रधानता हो जो कल्पना की दृष्टि से उद्दीप्त अथवा निर्दिष्ट हुआ हो और जिसमें स्वयं कवि की आत्मा इस कल्पना-दृष्टि को सशक्त बनाती एवं निर्देश करती रहती हो।" यह प्रवृत्ति साहित्यिक-उदारवाद से सम्बद्ध है। इस प्रवृत्ति की तीन प्रमुख

विशेषताएं हैं : आध्यात्मिक स्तर का गहरा प्रकृति-प्रेम, उदात्त और व्यापक मानवतावाद में विश्वास, तथा मुक्त एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की प्रणाली।

इस युग के कवियों ने भी काव्य पर विचार किया। वर्ड्सवर्थ ने सामान्य भाषा को काव्यभाषा के रूप मे स्वीकृत किया। सामान्य और साहित्यिक भाषा का अन्तर करना अस्वाभाविक और अहितकर है इनके अनुसार काव्य अभ्यास और कौशल से जन्म नहीं लेता। यह तो जीवन के शान्त क्षणों का सहज भावोद्रेक है। कवि पर शिक्षा, नैतिकता आदि का दायित्व लादना अस्वाभाविक और अनुचित है। काव्य का मूल लक्ष्य आनन्द है। कालरिज ने कहा कि काव्य का विरोध गद्य से नहीं विज्ञान से है। प्राय: सबने अनुकृति-सिद्धान्त पर भी कुठाराघात किया और कल्पना-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। कल्पना-जन्य होने के कारण काव्य एक नूतन सृष्टि है। इस प्रकार परम्परागत मान्यताओं मे परिवर्तन, संशोधन या उनका खण्डन करके इस आन्दोलन ने सच्चे अर्थों में आधुनिक युग का सूत्रपात किया।

उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे आलोचक दिखलाई देते हैं, जिन्होंने अति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना चाहा। साथ ही इन्होंने स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता और आनन्दवादिता के स्थान पर पुनः मर्यादा, सामाजिकता एवं उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। इन समीक्षकों में मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन और टॉलस्टॉय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने साहित्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए जीवन के उच्चादर्शों और मूल्यों की स्थापना पर बल दिया। जीवन की सहवर्ती धारा के रूप मे ही इन्होंने साहित्य को स्वीकार किया। 'आर्नल्ड के विचारों की एक झांकी इन शब्दों मे की जा सकती है : "समस्त राष्ट्रों मे सदासर्वदा काव्य के शाश्वत विषय क्या रहे हैं ? कार्य व्यापार, मानव के कार्य व्यापार। उनमे एक निहित रोचकता होती है। ...यदि कवि यह समझता है कि सब कुछ उसी की शक्ति में है, वह अपनी प्रतिपादन-कला से किसी मूलतः निकृष्ट कार्य-व्यापार को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार के समान आनन्ददायक बना सकता है, तो उसका यह विचार मिथ्या है। असङ्गत है....अतः सर्व प्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य व्यापार कौन से होते हैं ? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें—उन मूलवर्ती भावनाओं को (आन्दोलित करें) जिनका जातीय मानस में स्थायी वास होता है और जो काल-निरपेक्ष होते है। ये भाव स्थायी और अपरिवर्तनशील होते है और इनके अनुरञ्जन के साधन भी स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं।"[1] इसी प्रकार रस्किन और टॉलस्टॉय ने भी कला और साहित्य को

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ. 194

जीवन के आदर्शों और मूल्यों के सन्दर्भ में देखा। रस्किन ने कला और आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्वों को अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। टॉलस्टॉय ने कहा कि साहित्य हमारी उदात्त भावनाओं के उद्बेलन की शक्ति रखता है। इस प्रकार काव्य में लोकहित और उपयोगिता के सिद्धान्त स्वीकार कर लिए गए।

अभिव्यञ्जनावाद :

यह पाश्चात्य विद्वान् क्रोचे के 'ऐक्सप्रेशनिज्म्' का हिन्दी रूपान्तर है। एक प्रकार से जर्मनी के लेसिंग, विंगलमैन, तथा कांट और गेटे जैसे दार्शनिकों को काव्य-सिद्धान्त एक प्रकार से इस सिद्धान्त की पृष्ठ भूमि तैयार कर चुके थे। लेसिंग के अनुसार अभिव्यञ्जना में सौन्दर्य की समन्विति भी होती है। विंगलमैन ने भी कला में अभिव्यञ्जना को प्रधान स्थान दिया और उसके बाह्य तथा आन्तरिक सन्तुलन पर बल दिया। गेटे और कालिरिज ने अभिव्यञ्जना को समष्टि-क्षेत्र में स्थापित करके इस सिद्धान्त को एक व्यापक क्षेत्र प्रदान किया। क्रोचे ने इसको पूर्ण दार्शनिक और शास्त्रीय रूप प्रदान किया।

क्रोचे ने कला में रूप (Form) को ही एक मात्र महत्व प्रदान किया।[1] भारतीय काव्य-शास्त्र में रस का केन्द्र रसिक है : उसी के लिए उसी केन्द्र पर काव्य-शास्त्रीय ऊहापोह हुई है। क्रोचे ने अपनी विचारधारा में कवि को केन्द्र माना विचारणा के इस सूत्र में यह एक भावना स्वतः समा जाती है कि काव्य में ऐसा क्या होता है जो रसिक को आनन्द-विभोर कर देता है। दूसरा यह खोज करता है है कि कवि में कौनसी मूलवृत्ति रहती है जो उसे कला-सृष्टि के लिए विवश कर देती है।

अभिव्यञ्जना का आधार कवि की सहज अनुभूति है। इसके उदय के पश्चात् वस्तु 'बिम्ब' (Image) और 'रूप' (Form) की ओर चलती है। यह भी सत्य है कि सहज अनुभूति इन दोनों के बिना नहीं होती। वस्तुतः दोनों की परस्पर अन्वय-व्यतिरेकी व्याप्ति है : दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित है। वस्तु से बिम्ब और बिम्ब से रूप, यही अभिव्यञ्जना की प्रक्रिया है। इस प्रकार "सहज-प्रज्ञा, अभिव्यजना, रूप और सौन्दर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते हैं और उन्हें एक दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते हैं।"[2]

सहज प्रज्ञा से अभिव्यञ्जना अभिन्न है। अभिव्यजना ही कला का अन्तरङ्ग और केन्द्रय तत्व है। यही संश्लिष्ट सौन्दर्य का धायक है। उसी अभिव्यञ्जना के संश्लिष्ट रूप को कवि-वाणी व्यक्त करती हैं। कवि-वाणी में पद वर्ण-आदि तत्वतः

---

1. 'The aesthetic fact is form, and nothing but form.'
2. आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी; नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ. 82

अभिन्न होते हैं। यह अनेकत्व यदि विश्लेषण भी करता है तो संश्लिष्ट अभिव्यञ्जना का ही तात्पर्य यह है कि स्थूल शाब्दिक अभिव्यक्ति भी संश्लिष्ट रहती है।[1]

क्रोचे ने स्पष्ट कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में वस्तु (Object) की वही प्रतीति सहज अनुभूति है जो गुण, क्रिया, नाम, रूप आदि के पार्थक्य और विश्लेषण से रहित एकात्मक होती है। यह प्रसाद के 'सकल्पनात्मक अनुभूति' सिद्धान्त के अधिक समीप है। उसी सहजानुभूति की अनेक-रूप-अभिव्यक्ति होती है पन्तजी ने लिखा है :

> वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
> हृदय में बनता प्रणय अपार।
> लोचनों में लावण्य अनूप,
> लोक सेवा में शिव अधिकार।

यह सहज प्रज्ञा ही सत्य है जो 'शिव' और 'सुन्दर' के रूप मे अभिव्यक्त होता है यथार्थमयी अभिव्यक्ति, आन्तरिक और वास्तविक अभिव्यक्ति की छाया मात्र है। सदैव ही शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति होना अनिवार्य नहीं है। बिना इस बाह्य अभिव्यक्ति के भी, आन्तरिक और वास्तविक अभिव्यक्ति के आधार पर भी किसी को कवि कहा जा सकता है। इसे आचार्य राजशेखर ने 'हृदय कवि' कहा है।

शब्दार्थ पर आधारित बाह्य अभिव्यक्ति तर्क लक्षण बौद्धिक प्रक्रिया की देन है। यह सहज अनुभूति का अत्यन्त स्थूल रूप है। बाह्य और स्थूल अभिव्यक्ति कवि के प्रथम, आन्तरिक काव्य का आंशिक प्रतिनिधित्व ही करती है। भाषा की संश्लिष्टता को व्याकरण का विश्लेषण आछन्न कर लेता है और आन्तरिक काव्य की एकात्मक या संश्लिष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।[2] क्रोचे ने आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्ति को समान दृष्टि से नहीं देखा। उसने आन्तरिक अभिव्यक्ति को ही सर्वांश में महत्वपूर्ण माना। "क्रोचे का कथन है कि मन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, और समस्त जीवन या जगत का उसमें समहार हो जाता है। मन-जगत् से छाप ग्रहण करता है और वही उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। जगत् भी क्या है? वह मन का ही विवर्त है।"[3] तुलसी भी इसी प्रकार मन को सभी सृजनात्मक

---

1. Speech is unity, not multiplicity of images, and multiplicity does not explain. but inded presupposes the expression to be explained.'—Croce, Aesthetic, P. 144.
2. The grammatical and logical articulation of intellectualized language are no more fundamental to language as such than the articulations of bone and limp are fundamental to living issue.

   R.G. Collingwood, The Principles of Art, P. 236
3. नया साहित्य, नये प्रश्न, पृ. 83

कार्यों का उपादान स्वीकृत किया है—

बिटप मध्य पुतरिका, सूत महँ कञ्चुकी बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए॥[1]

शब्दार्थ मात्र को काव्य मानना शारीरिक चेष्टा मात्र को मनुष्य कहने जैसा असमञ्जस है।[2] क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है। इस सिद्धान्त ने योरुप की समीक्षा को बहुत दिनों तक प्रभावित किया। आधुनिक युग का यह एक प्रमुख सिद्धान्त है।

प्रतीकवाद :

साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग होता है। समीक्षा-क्षेत्र में प्रतीक एक वाद का भी रूप धारण कर लेता है। सर्वत्र इसके दोनों ही रूप मिलते हैं। काव्य-साधना का लक्ष्य सौंदर्य का उद्घाटन और उसको आस्वाद्य बना देना है। प्रतीक इस साधना में आकर्षण और चमत्कार पूर्ण पद्धति से सौंदर्य को अपने में बाधता है और उसके प्रेषण का माध्यम बन जाता है। अनन्त सौंदर्य को सांति मे बांधने का यह प्रयास अपने आप में एक महान् साधना है। सौंदर्य प्रतीक मे खण्ड रूप से व्याप्त होता है, पर प्रतीक की प्रकृति यह है कि वह पूर्ण सौन्दर्य की ओर संकेत करता है।

प्रतीक दो प्रकार के माने जाते हैं। एक तो बौद्धिक श्रम से प्रसूत प्रतीक होते है, दूसरे प्रतीक वे होते है जो रचनाकार की रचना की आवास्यक स्थिति में—और सम्भवतः रचनागत अत्यधिक तल्लीन मनोस्थिति मे—अनजान में ही, अभिव्यक्त होते है। यह प्रतीक कवि की अचेतन प्रक्रिया के परिणाम हैं।

कोश के अनुसार प्रतीक अवयव या अङ्ग (अमर कोश) और प्रतिरूप (मेदिनी कोश) के अर्थ मे मिलता है। प्रतीक प्रतीकी का अवयव या उसका प्रतिरूप होता है। किसी अवयवी या अङ्गी के अथवा किसी रूप के अवयव का अङ्ग अथवा प्रतिरूप मे उसके ही तत्त्व होने स्वाभाविक है। प्रायः प्रतीकी अदृश्य होता है और प्रतीक दृश्य। इस प्रकार अरूप को रूपायित करने की पद्धति में प्रतीक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतीक लोक-रुचि एवं अपनी शक्ति के अनुसार अल्पजीवी और दीर्घजीवी होते हैं। इसी प्रकार प्रतीकों की व्यापकता की भी श्रेणियां और सरणिया निश्चित की जा सकती है। प्रतीक का सम्बन्ध परम्परा से भी है। इनका प्रयोग रहस्यवादी साधना की स्थितियो की अभिव्यक्ति मे भी होता है और काव्य के क्षेत्र मे भी प्रतीको के सम्बन्ध में यह सामान्य विचार है।

---

1. विनय पत्रिका, 124
2. Speech is after all only a system of gestures.
   —Principles of Art, P. 243

पाश्चात्य विद्वानों ने भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए है। इसको विम्ब से पृथक् माना गया है और एक इकाई को प्रकट करने वाला कहा गया है।[1] साहित्यिक प्रतीक का स्वरूप और संकेत अनिश्चित और सन्दर्भ सापेक्ष होता है। इसके विपरीत गणित के प्रतीक सुनिश्चित होते है। साहित्यिक प्रतीक नवीन संदर्भों मे नवीन अर्थों की उद्भावना मे सक्षम होते हैं। प्रतीक प्रकट अर्थ के साथ साथ सूक्ष्म संकेत भी देता है।

हेगल ने कलाओं का वर्गीकरण करते हुए क्लासीकल और रोमांटिक कलाओ के साथ तीसरी कला को प्रतीकात्मक कला कहा है प्रतीकात्मक कला के मूल मे उन्होने भी अस्पष्टता मानी है।[2] यहा प्रतीक के अर्थ के सम्बन्ध में इससे अधिक कहना अपेक्षित नही है।

योरुप में 'प्रतीक' एक वाद का आधार बना। कुछ विद्वानों ने प्रतीक को ही समस्त काव्य-सौन्दर्य का आधार माना। इस प्रकार के विद्वानों को प्रतीकवाद के प्रवर्तक और उन्नायक के रूप मे स्वीकृत किया जा सकता है। फ्रास के कवि 'जीन-मोरेआज' अपनी पत्रिका 'फिगारो' (18 सितम्बर, 1886) के अङ्क मे सर्वप्रथम 'प्रतीकवाद' की घोषणा की। प्रतीकवाद का उदय प्राकृतवाद (Naturalism) के विरोध में हुआ।

प्राकृतवाद के अनुसार मानवीय मस्तिष्क की समस्त क्रिया-प्रक्रिया इन्द्रिय-जन्य हैं। प्राकृतवाद में अध्यात्म के स्थान पर भौतिकता की, आदर्श के स्थान पर यथार्थ को, सौन्दर्य के स्थान पर अरूपता को और अलङ्कारिता के स्थान पर स्वाभाविकता को महत्त्व दिया जाता था। इस वाद का उन्नायक एमिलो जोला (1840-1902) था। इस वाद के समर्थकों और मानने वालों की दृष्टि में सामाजिक मर्यादाओ और बन्धनों की कोई महत्ता नही थी। लेखक अपनी समस्त निजी अनुभूतियो को निर्बन्ध रूप से, प्रकृत शैली मे अभिव्यक्त कर देते थे।

---

1. 'An image is the opposit of a symbol. A symbol is denotative; it stands for one thing only as the figure I represents one unit.

   C. Day Lewis, the Poetic Image, p. 40

2. Matter (embodiment) predominates over spirit (content). The spiritual content here struggles to find its adequate expression but fails to do so. It fails clearly to shine through. It has not mastered its medium. It is overwhelmed by matter. This gives us the symbolic type of art.
   On account of differnence the symbol is always ambiguous. This ambiguity explains the sense of mystery which pervades all symbolic art."
   —The Philosophy of Hegel—W T. Stace, Page 452-53

इसी वाद की प्रक्रिया में प्रतीकवाद आया। जीनमोरे ने इसकी घोषणा की। उनके पश्चात् अलवर्ट ओरिएट ने अपने एक लेख में प्रतीकवाद का स्पष्टीकरण किया। कुछ लोगों की यह धारणा थी कि प्रतीकवाद कोई आध्यात्मिकवाद है। पर यह भ्रम ही है। केवल रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख साधन प्रतीक अवश्य है। प्रतीकवाद फ्रांस की सीमाओं का अतिक्रमण करके अन्य देशों में भी पहुंचा। मलार्मे ने अपनी रचनाओं से इस वाद को पर्याप्त पुष्ट किया। इन्होंने प्रतीकवादी कवियों की सौंदर्य भावना को सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया। इन कवियों ने इतिवृत्तात्मक और कलागत वक्रता से शून्य काव्य-धाराओं को काफी ठेस लगाई।

ओरिएट के अनुसार प्रतीकवादी काव्य की ये विशेषताएं हैं : (i) प्रतीकवादी कला को भावात्मक मानकर चलता है। (ii) सूक्ष्मतम भावों को प्रतीकों के माध्यम से सुन्दर अभिव्यक्ति दी जा सकती है। (iii) इस अभिव्यक्ति का सौन्दर्य संश्लिष्ट होता है। (iv) प्रतीकात्मक साहित्य में कवि के व्यक्तित्व को प्रमुखता प्राप्त होती है। (v) शैली अलंकृत होती है। वैसे (vi) प्रतीकवादी विचारधारा को आध्यात्मवाद ने भी पर्याप्त सहायता दी (vii) प्रतीकार्थ की प्रतीति अधिकांश लक्षणा और व्यञ्जना पर आधारित होती है। इस वाद की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इसने प्रतीक को साधन रूप में नहीं साध्य के रूप में ग्रहण किया। दूसरी दुर्बलता यह है कि कला की सहज-अभिव्यक्ति को अत्यधिक प्रतीकों में जकड़ कर उसे दुर्बोध और दुरूह बना दिया।

निष्कर्ष :

इस प्रकार उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती में अनेक वादों ने पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में जन्म लिया। उक्त वादों के अतिरिक्त फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद भी साहित्य की सृष्टि और समीक्षा को प्रभावित करता रहा। दूसरी ओर मार्क्सवादी दृष्टि ने समीक्षा को प्रभावित किया। ये वाद वास्तव में साहित्य के क्षेत्र के नहीं थे। फिर भी साहित्य पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। वादों की इस भीड़ ने साहित्य के क्षेत्र में एक अराजकता सी उत्पन्न करदी। परस्पर विरोधी विचारधाराएं परस्पर टकराने लगी। इस अराजकता के बीच कुछ व्यवस्थापक उत्पन्न हुए। आई. ए. रिचार्ड्स, हरबर्ट रीड. एफ एल ल्युकस जैसे मनीषी उत्पन्न हुए। इन्होंने साहित्य-शास्त्र को वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र को इन्होंने व्यवस्थित और सुनिश्चित रूप प्रदान किया। हरबर्ट, डिंगले तथा उनके अन्य कई साथियों ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का आन्दोलन चलाया है। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान की नवीन खोजों का भी इस क्षेत्र में व्यवहार होने लगा है। इस पद्धति से साहित्य का शैली तात्त्विक अध्ययन किया जाता है। शैली और भाषा के आधार पर ही साहित्य के समस्त सौन्दर्य का उद्घाटन किया जाता है। आज की परिस्थितियों के अनुसार साहित्य-समीक्षा का वस्तुन्मुख अध्ययन स्वाभाविक ही है। आज साहित्य-शास्त्र को देश-काल की सीमाओं से मुक्त करके एक व्यापक धरातल देने की आवश्यकता है। सभी देशों के साहित्यकार इस उद्घोष से सहमत हैं फिर भी अपने-अपने क्षेत्रों में ही सीमित हैं। विश्व साहित्य ही विश्व कल्याण कर सकेगा।

३.२ हिन्दी प्रतिमानों की खोज

आधुनिक हिन्दी समीक्षा सुधार, नवजागरण और पुनरुत्थान की भूमियों से ही जीवन लेकर अपनी प्रारम्भिक अस्मिता को प्रमाणित करती है। ग्रहण, नव-चिंतन और मूल्य चेतना आधुनिक हिन्दी समीक्षा के विविध आयाम घटित करते हैं। भारतेन्दु युगीन कोशिशें द्विवेदी युगीन परिवेश में आकर सुनिश्चित कार्यक्रमों में बदल जाती हैं। समीक्षा एक ओर दृष्टि वैविध्य विकसित करती है तो दूसरी ओर और गहरे उतरने के लिए बेचैन है। शाश्वत मानवता और राष्ट्रीयता के आधारों को लेकर समीक्षा अग्रगामी परिणतियां लेकर चलती हैं। संक्षेप में हिन्दी की आधुनिक समीक्षा की स्थिति और सम्भावना को देख लेना है।

हिन्दी में नवीन समीक्षा पद्धति का आगमन 19वीं शती के पिछले दशकों में हुआ।[1] प्रारम्भ में आलोचकों का कार्य केवल छिद्रान्वेषण ही माना जाता था। फिर पुस्तक परिचय छपते थे। द्विवेदी युगीन समीक्षा कुछ संस्कृत कवियों की समीक्षा से प्रारम्भ हुई।[2] वैसे भविष्य में उदित और विकसित होने वाली सभी प्रकार की समीक्षा शैलियों[3] का बीजारोपण द्विवेदी युग में हुआ। यदि ठीक से देखा

---

1. इस का प्रारम्भ बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' के 1882 में लिखे निबन्धों से माना जाता है। इन्होंने लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयवर' के नाट्य दोष दिखलाए और गदाधरसिंह द्वारा अनुदित 'बंग विजेता' की भाषा सम्बन्धी त्रुटियों की ओर संकेत किया।
2. महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' में उनकी भाषा सम्बन्धी त्रुटियों की ओर संकेत किया है। द्विवेदी जी ने 'विक्रमांक देव चरित्र चर्चा, और 'नैषद चरित्र चर्चा' में आलोच्य कृतियों का परिचयात्मक निरूपण किया।
3. प्रभावात्मक, अनुभवात्मक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, निर्णयात्मक, अभिव्यञ्जनावादी, नैसर्गिक, जीवन वृत्तांतिक, कार्यात्मक, क्रियात्मक, तात्विक आदि समीक्षा शैलियां।

जाये तो बीसवीं शती के आरम्भ में ही आलोचना की आवश्यकता का अनुभव किया गया। समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में पुस्तक-समीक्षा स्तम्भ चलने लगा। समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष की ओर भी ध्यान गया।[1] पाश्चात्य आलोचना पर भी हिन्दी के प्रारम्भिक आलोचकों का ध्यान गया। हिन्दी आलोचना को रूप देने में कुछ प्रारम्भिक पत्र-पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा : माधव प्रसाद मिश्र के सम्पादन में 'सुदर्शन' (काशी 1900), तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के सम्पादन में 'समालोचक' (जयपुर, 1902) तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में 'सरस्वती' (1903) का प्रकाशन हुआ। इनमें पुस्तकों की आलोचनाएं आने लगीं। आधुनिक समीक्षा के प्रारम्भकर्त्ता के रूप में प महावीर प्रसाद द्विवेदी को माना जा सकता है, चाहे आलोचना का शैशव इनसे पूर्व आरम्भ हो गया हो।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल में लिखी गई टीकाओं की समीक्षा शैली और कविता के विषय और शैली से सम्बन्धित रूढ़ियों से हिन्दी समीक्षा को मुक्त किया। साथ ही पुस्तक समीक्षा को राग, द्वेष, पूर्वाग्रह आदि विकृतियों से भी मुक्त किया और न्यायपूर्ण, तटस्थ समीक्षा पद्धति का सूत्रपात किया। समीक्षा के क्षेत्र में नवीन आदर्श की भी प्रतिष्ठा द्विवेदी जी ने की। आदर्शवादी समीक्षक की दृष्टि से इन्होंने साहित्य में उदात्त वस्तु का पक्ष लिया। कालिदास, भवभूति, भारवि और श्री हर्ष के लक्ष्य साहित्य के आधार पर उन्होंने जिस आलोचनादर्श की स्थापना की, उसके आधार पर भक्त कवियों की तुलना में रीतिकाल के कवियों को नीचा सिद्ध किया। भारतेन्दु की रचनाओं को भी इन्होंने श्रेष्ठ माना। इनसे तत्कालीन या समसामयिक रचनाओं की समीक्षा की आलोचना की आवश्यकता को बल मिला।

समीक्षक के रूप में द्विवेदी जी का ध्यान विशेष रूप से साहित्यिक मूल्यों के नियमन, भाषा की शुद्धता और स्थिरता की ओर रहता था।

द्विवेदी युग में भारतीय साहित्य और भाषा के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की शोध दृष्टि उत्पन्न हुई। प्राचीन अतीत की उपलब्धियों और गरिमा के प्रति अनुराग जगा। प्राचीन कवियों के समय, उनके जीवन चरित्र तथा लुप्त कृतियों के अन्वेषण और प्रकाशन के रूप में शोध दृष्टि प्रतिफलित होने लगी। पहले संस्कृत

---

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (प्रथम भाग) में रत्नाकर जी का पोप के ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म' का पद्यानुवाद 'समालोचनादर्श' और गंगा प्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' लेख छपे। (1897)

कवियों पर शोध-परक दृष्टिपात किया गया : अनुवाद भी हुए[1] और स्वतन्त्र रूप से भी प्राचीन कवियों पर अनुसंधानपरक लेख लिखे गये[2]—

नागरी प्रचारिणी सभा का कार्य अज्ञात हिन्दी ग्रंथों की खोज की दिशा में महत्व ग्रहण करने लगा। डा श्यामसुन्दर दास, श्याम विहारी मिश्र और शुकदेव विहारी मिश्र ने हजारों लुप्त-गुप्त पुस्तकों की खोज की और उनका विवरण भी प्रकाशित किया गया। इन्हीं विवरणों और पुस्तकों की प्रतिलिपियों के आधार पर हिन्दी का शोध-पूर्ण इतिहास सम्भव हो सका। ना. प्र. पत्रिका में शोध और शोध-परक समीक्षा से सम्बन्धित लेख भी प्रकाशित होते रहते थे।[3]

द्विवेदी युग की शोध चेतना की सबसे बड़ी उपलब्धि है—साहित्येतिहास की चेतना का विकास। हिन्दी भाषा के इतिहास को प्राकृत के और अपभ्रंश की परिप्रेक्ष में देखा गया।[4] अन्य भाषाओं के साहित्येतिहास भी लिखे गये[5] और हिन्दी साहित्य का इतिहास भी।[6] इस चेतना का परम् विकास आ. शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में देखा जा सकता है। समकालीन युग में स्वतन्त्र रूप से साहित्य के इतिहास-दर्शन का भी विकास हुआ।

---

1. सरजू प्रसाद मिश्र ने 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियों का समय निरूपण' ग्रन्थ का बंगला से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने 'संस्कृत कवि पंचक' का मराठी से, हिन्दी में अनुवाद किया।
2. महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'विक्रमांक देव चरित चर्चा', 'नैषध चरित चर्चा', किशोरी लाल गोस्वामी ने 'अभिज्ञान शाकुंतल' और 'पद्मपुराण', (ना. प्र. पत्रिका, 1900), गुलेरी जी ने 'विक्रमोर्वशीय' जैसे लेख स्वतन्त्र रूप से लिखे।
3. पत्रिका के प्रथम वर्ष में ही राधाकृष्ण दास के 'नागरीदास का जीवन चरित', 'मुसल्मानी दफ्तरों में हिन्दी' नामक लेख छपे। एडविन ग्रिब्स ने 'गोसाईं तुलसी दास का जीवन चरित' (1819) तथा राधाकृष्ण दास ने 'सूरदास का जीवन चरित' (1900) लेख लिखे। डा श्यामसुन्दर दास के 'बीसलदेव रासो' और 'हिन्दी का आदि कवि' नामक लेख भी छपे। पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में गो. ही. ओझा, मोहनलाल विष्णुलाल पड्या और श्यामसुन्दर दास जी के गम्भीर लेख छपे। इनके अतिरिक्त और भी शोध-परक लेख छपे। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का 'पुरानी हिन्दी', लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
4. 'हिन्दी पर प्राकृत प्रभाव', (जयमोहन वर्मा) तथा 'पुरानी हिन्दी' (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) जैसे निबन्ध इसके प्रमाण हैं।
5. 'गुजराती साहित्य का इतिहास' (गणपति जानकीराम दुबे) तथा प्राचीन 'जैन साहित्य' (पूर्ण चन्द्रनाहर) को प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है।
6. खोज रिपोर्ट के आधार पर लिखा हुआ 'मिश्रबन्धु विनोद' इसी प्रकार का एक प्रयत्न है (प्रकाशित, 1915 : तीन भाग)। इसी के आधार पर हिन्दी साहित्य को चार कालों में विभाजित किया गया।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र भारतीय में काव्यशास्त्र के प्रमुख चार सिद्धातों[1] का परिशीलन इस युग में हुआ। रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों के सिद्धान्तों का भी अध्ययन किया गया। कई सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना इस युग मे हुई।[2] सैद्धान्तिक ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किए गये।[3]

शास्त्रीय समीक्षा के क्षेत्र मे भी कई प्रयत्न सामने आये। मिश्र बन्धुग्रो ने पहली आलोचना 'सरस्वती' (सितम्बर, 1900) में लिखी। इसमें गुण और रस विवेचन के आधार पर साहित्य की आलोचना की पद्धति की ओर सकेत है। श्रीधर पाठक ने भूषण पर सैद्धान्तिक समीक्षा (1904) लिखी इसमें रस निष्पत्ति, अलकार निरूपण, गुण दोप विवेचन को आधार माना गया है। 'मिश्रबन्धुओं' का 'हिन्दी नवरत्न' भी शास्त्रीय समीक्षा का आधार लेकर ही चला है। इसमें व्यक्तिगत रुचि को भी साथ-साथ रखा गया है।

आ शुक्ल ने शास्त्रीय समीक्षा की आधुनिक प्रतिमानों के परिप्रेक्ष मे नितान्त नवीन दिशा प्रदान की। साहित्य सिद्धान्तो को तुलसी के साहित्य दर्शन और लोक मंगल, पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों और नवीन सामाजिक चेतना से सम्बद्ध करके, एक नवीन प्रतिमान और निष्कर्ष की सृष्टि की थी।

रत्नाकर जी ने 'ऐसेज ऑन क्रिटिसिज्म' का हिन्दी अनुवाद 'समालोचना-दर्श' नाम से प्रकाशित कराया। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व साहित्य' में पश्चिमी साहित्य सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला। श्यामसुन्दर दासजी ने 'साहित्यालोचन' (1922) मे पूर्वी और पश्चिमी साहित्य सिद्धान्तों को साथ साथ रख कर देखा।

पाश्चात्य समीक्षा का सूक्ष्म अध्ययन करके भारतीय समीक्षा सिद्धान्त के साथ उनका सामजस्य करना आ. शुक्ल के कृतित्व मे देखा जा सकता है। विशेष रूप से उन्होने रिचर्ड्स और इलियट के सिद्धान्तों का भारतीय दृष्टि से परिशीलन किया। आगे यह सूत्र और अधिक विकसित होता चला गया।

पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी और फारसी कवि सादी' (सरस्वती, जुलाई, 1907) नामक तुलात्मक समीक्षा का निबन्ध लिखा। शर्मा जी ने तुलनात्मक शैली

---

1. रसवाद (भरत), ध्वनिवाद (आनन्द वर्द्धन और मम्मट), अलंकारवाद (मम्मट और दण्डी), रीतिवाद (वामन) और वक्रोक्तिवाद (कुंतक)
2. प्रमुख ये हैं नवरस (बाबूराम विसारिया) 'अलकार प्रकाश' और 'काव्य कल्पद्रुम' (कन्हैयालाल पोद्दार), 'भारती भूषण' (अर्जुनदास केडिया), 'अलंकार मंजूषा' (लाला भगवान दीन), 'छन्द प्रभाकर' (जगन्नाथ प्रसाद भानु) 'काव्य प्रभाकर' (भानु) आदि।
3. शालिग्राम शास्त्री ने 'साहित्य दर्पण' का अनुवाद हिन्दी मे किया। इन्होने 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिय' की टीकाएं भी लिखीं।

में ही एक और लेख 'विभिन्न भाषाओं के समनार्थी पद्य' (सरस्वती के कई अंकों में प्रकाशित: 1911 में समाप्त) लिखा। इनका ही एक और लेख 'भिन्न कविताओं के बिम्ब-प्रतिबिंब भाव' अगस्त, 1909) छपा। मिश्रबन्धुओं ने तुलनात्मक आधार पर तुलसी को प्रथम, सूर को द्वितीय और देव को तीसरा स्थान दिया था। पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' नाम से एक विस्तृत आलोचना लिखी जिसमें बिहारी को देव से ऊँचा ठहराया गया। इनके तर्कों का उत्तर कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक ग्रंथ में दिया। लाला भगवान दीन ने भी 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक में बिहारी को देव से ऊँचा सिद्ध किया। कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'बिहारी और दास' (मर्यादा, 1921) नामक तुलनात्मक लेख लिखा। बिहारी और देव को लेकर जो तुलनात्मक समीक्षाएं लिखी गयी उनमें कुछ दुराग्रह आ जाने से तुलनात्मक समीक्षा के लिए आवश्यक तटस्थता कुछ भंग हुई। न्याय पूर्वाग्रहों में उलझ गया।

इसको तुलनात्मक समीक्षा का आरम्भिक बिन्दु ही कहा जा सकता है जिसका विकास आगे चलकर तुलनात्मक अध्ययन के वृहत्तर कार्यक्रमों में हुआ।

इस क्षेत्र के प्रतिनिधि समीक्षक पं रामचन्द्र शुक्ल हैं। इन्होंने पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा सिद्धान्तों को तटस्थ दृष्टि से देखा है। दोनों के स्वस्थ समन्वय का भी शुक्ल जी ने प्रयास किया। रूढ़िवादी दृष्टि से इन्होंने हिन्दी समीक्षा को उन्मुक्त किया। नवीन साहित्यिक मनोभूमि को समझने और समझाने की दृष्टि से आपका योगदान महत्त्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती समीक्षा पद्धतियों का आपने नियमन भी किया और उन्हें वैज्ञानिक व्यवस्था भी प्रदान की। नवीन साहित्यादर्श के विचार को स्पष्ट और प्रतिष्ठित किया। 'मूल आदर्श' शब्द के रूप में 'लोक-संग्रह' शब्द का प्रचलन हुआ। इस शब्द के पीछे तुलसी का व्यक्तित्व और कृतित्व है। लोक-सग्रह और रमीमांसा के आधार पर उन्होंने हिन्दी समीक्षा के प्रतिमान का निर्माण किया। सम्भवत: शुक्ल जी ने भारतेन्दु कालीन लेखकों से साहित्य-संस्कार प्राप्त किये और द्विवेदी युग के परिप्रेक्ष में उनको विकसित किया।

आ. शुक्ल की विश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति मे बुद्ध की करुणा,[1] तुलसी का लोक-सग्रह, सुधारवादी दृष्टि से प्रेरित व्यंग्य, गांधीवाद जीवनादर्श, रस-सिद्धान्त नवोदित सामाजिक चेतना का सूत्र विधान है।

संक्षेप में यह कह जा सकता है कि द्विवेदी युग मे वैचारिक पद्धतिगत और शिल्पगत वे सारे तत्व मिल जाते हैं जो अपने समकालीन विकास के लिए अवसर

---

1. 'बुद्ध चरित' के रचयिता के रूप में चाहे उन्हें प्रसिद्धि न मिली हो किन्तु बुद्ध की करुणा, संस्कार के रूप में, उनके व्यक्तित्व में समा गई।

की प्रतीक्षा में हैं। प्रयोगशीलता बढ़ती जाती है और अस्तित्ववादी जैसे दर्शनों की ओर आकर्षण अधिक होता जाता है। समकालीन युग और द्विवेदी युग के बीच रोमांसवाद का युग आता है जो तेजी के साथ समकालीन परिणतियों में लीन हो जाता है। उसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ वह अधिक परिवर्तनशील, प्रयोगशील, अस्वीकारात्मक, परम्परा की अनास्था से युक्त, विसंगत और अपने को प्रतिष्ठित करने की बेचैनी को लिए हुए है। भारतीय तत्व पाश्चात्य प्रभाव के सामने कुछ ठिठकने लगते हैं और मनुष्य अपने आहत अहम् और विकलांग अस्तित्व की खोज और सुरक्षा में लग जाता है। जीवन की विकृतियों, पाप भावनाओं और कदाचारित में जीवन का यथार्थ दिखलाई पड़ने लगता है। इस युग के कुछ प्रतिमान भी है। इन प्रतिमानों पर आगे विचार किया गया है।

३.३ सत्यं शिवं सुन्दरम्

जब आधुनिक युग इतिहास में तैर आता है तब आधुनिकता का वहन करने के लिए विशिष्ट अभिव्यक्तियां जन्म लेती हैं। साहित्य नई प्रतिबद्धताओं का अनुभव करता है और व्यक्ति, समाज तथा साहित्य के बीच नये रिश्ते कायम करके एक नयी भाव-प्रवणता को जन्म देता है। यह भाव-प्रवणता इतिहास में अभूतपूर्व नहीं होती। केवल युगीन मानसिकता के अनुसार इसको नये तेवर और नये मुहावरे देकर इस मिजाज को इतिहास के साथ जोड़ दिया जाता है। यह सब करने के लिए साहित्य कुछ नवीन मूल्यों और मूल्यांकन के प्रतिमानों को पैदा करता है या ग्रहण करता है।

भारतेन्दु युग से लेकर लगभग छायावादी युग तक हिन्दी साहित्य में जो आधुनिकता स्पंदित है उसमे किसी न किसी रूप से सत्यं शिवं सुन्दरं का रूप व्याप्त है। सुधारवादी चेतना शिव के तत्त्व से अनुप्राणित है और आधुनिक युग के सजग आलोचक पंडित रामचन्द्र शुक्ल का साहित्यिक मूल्यांकन शिव की शक्तियों को ही व्यवहृत करता है। छायावादी मूल्यांकन का आधारभूत सिद्धान्त सुन्दर है जो जाने-अनजाने सत्य और शिव का संस्पर्श कर लेता है। ब्रह्मसमाज से प्रभावित या उससे संपृक्त साहित्य मनीषी इस सूत्र के आधार पर ही साहित्य की रचना और मूल्यांकन करने के पक्षपाती रहे। महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर और विश्व कवि रवीन्द्र की अनुभूतियों मे सत्य शिव और सुन्दर का घोल बहुत गहरे चला गया है। चाहे इस सूत्र का आयात बाहर से हुआ हो फिर भी भारतीय दर्शन की मूल्य दृष्टि इस के साथ सहचरी भाव से जुड़ती-मिलती चली गयी।

साहित्य के क्षेत्र का यह एक अत्यन्त लोकप्रिय सूत्र है। इन तीन शब्दों में समस्त जीवन को माप लेने की व्यापकता और शक्ति है। भारत में त्रिगुणात्मक चिन्तन-पद्धति लोकप्रिय अवश्य रही—त्रिदेव उसी चिन्तन-पद्धति का प्रतीक है—पर इस त्रिकोणात्मक सूत्र का उदय सम्भवतः भारत में नहीं हुआ। स्वतन्त्र रूप से

इन तीनो पर तत्व-चिन्तन तो हुआ, पर इस सूत्र की इस रूप में प्रतिष्ठा यहां नहीं हुई। दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र मे सच्चिदानन्द जैसे सूत्र प्रतीक की प्रति ही यह थी। इस सूत्र मे सत् मूल तत्वाधार का प्रतीक है। चित् गति का भाव सन्निहित है और समस्त गत्यात्मक अस्तित्व का लक्ष्य है आनन्द। अन्ततः तीनों एक हैं अभिन्न हैं। 'आनन्द' की स्थिति अभेद और अद्वैत की स्थिति है। वेदों में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का एक सूत्र मे भी प्रयोग नहीं मिलता। वेदों में तो अलग-अलग भी इन प्रतीको का प्रयोग सम्भवतः नही है। तैत्तरीय और माण्डक्य उपनिषदो मे अवश्य सत्य और शिव का प्रयोग हुआ है। सुन्दर का प्रयोग वहा भी नही है। वैसे सुन्दर शब्द प्राचिन साहित्य मे अवश्य प्रयुक्त मिलता है। अमर कोषकार ने चारू एवं रुचिर के अर्थ मे सुन्दर का प्रयोग किया है।[1] पर सूत्रवत प्रयोग इन शब्दों का नहीं मिलता है। शिव और सुन्दर का शब्दान्तर से प्रयोग हमें भारवि के 'किरातार्जुनीय' में प्राप्त होता है : "हितं मनोहारिच दुर्लभंवचः" गीता मे सत्य, प्रिय, हितकर और अनुद्वेगकर दोनों मे बोलने का आदेश है। इसमें सत्य और शिव की छाया मानी जा सकती है। इस प्रकार आंशिक रूप मे समानार्थक शब्दावली और सिद्धान्त तत्व भारतीय दर्शन में मिल जाते हैं, पर यह स्वीकार करने मे तनिक भी संकोच नही करना चाहिए कि "सत्यं और शिवं, सुन्दरम्" का सूत्र हमने बाह्य या पाश्चात्य से लिया है। वस्तुतः "सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" एवं सच्चिानन्द की प्रतीति एवं व्याप्ति मे समानता होते हुए भी दोनों मे दो भावनाओं की मौलिकता का अन्तर है। यह अन्तर पाश्चात्य जीवन दर्शन एवं भारतीय जीवन दर्शन मे है। हमारे सूत्र की समासात्मकता यहां के जीवन धर्म की सामाजिक पद्धति है।

अधिकाश आलोचक एवं विचारक यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा तो इस यूनानी सूत्र "The Truth, the good and the beautiful" में है, परन्तु इसका विकास यूरोप मे हुआ। कुछ विद्वानो का विचार है कि इस सूत्र का सर्व प्रथम प्रयोग भारत में रविन्द्रनाथ टैगोर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज की आदर्श प्रतिष्ठा के निमित्त किया था। पर इसका प्रयोग किस आधार पर किया गया, यह अज्ञात ही है। कतिपय विद्वान् मानते हैं कि राजा राममोहन राय ने इसका प्रथम प्रयोग किया। पीछे बंगला से हिन्दी मे यह सूत्र गृहीत हुआ है। इस सूत्र का भारत मे प्रयोग सबसे पहले बंगला में हुआ।

---

1. अमरसिंह ने कोष मे सुन्दर के प्रति शब्द इस ;—
सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु
कान्तं मनोरमं रूच्यं मनोज्ञं मञ्जु

माना जा सकता है कि यह सूत्र भारत से यूरोप से आया। विक्टर कजिन की एक पुस्तक है : 'दि ट्रू, दि गुड एँड दि ब्यूटीफुल'। फ्रांसिसी और जर्मन साहित्य में भी इन शब्दत्रयी का प्रयोग साथ साथ मिलता है। इन तीनों शब्दों का सहज रूपान्तर इतना पूर्ण और उपयुक्त हुआ है कि यह पूर्णतः भारतीय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन तीनों शब्दों में होती विचारधारा किसी भी देश के लिए विदेशी नहीं है। किसी न किसी रूप में इन तत्वों का समावेश सभी दर्शनों में है। यह बतलाना कठिन है कि यूरोप में कब किस विद्वान से सीधे सीधे यह सूत्र भारतीय विचारकों ने लिया। इसकी जोड़तोड़ भी सम्प्रति अभीष्ट नहीं है। संक्षेप में इस सूत्र का तत्त्वान्वेषण ही उपयुक्त होगा।

काव्य, साहित्य तथा समस्त ललितकलाओं का मूल आधार, पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार सौन्दर्य है।[1] इस प्रकार ललित कलाओं की सृष्टि-प्रक्रिया और उनका लक्ष्य किसी प्रकार के प्रयोजन या उपयोगिता की दासता स्वीकार नहीं करते। सौन्दर्य के माध्यम के विश्लेषण में सौन्दर्य शास्त्र (Aesthetics) का जन्म हुआ।[2] सौन्दर्य शास्त्र के सभी विचारक इसे कलाओं का सर्वस्व मानते हैं। सामान्यतः सौन्दर्य बोध किसी भी वस्तु के एक विशेष गुण बाह्य पक्ष से सम्बन्धित है। इस गुण का आंखों के माध्यम से होता है। किसी वस्तु को देखकर आकर्षण या विकर्षण का अनुभव होने पर हम उस वस्तु को सुन्दर या असुन्दर कहते हैं। अर्थ-विस्तार की दृष्टि से सुन्दर शब्द का प्रयोग ऐसी वस्तुगत विशेषताओं के लिये भी होने लगता है जिनका ग्रहण मात्र चक्षुरिन्द्रिय से नहीं होता। ऐसे स्थलों पर 'सुन्दर' लक्ष्यार्थ के रूप में ही ग्रहीत होता है। काव्य के सन्दर्भ में सौन्दर्य लक्ष्यार्थ के रूप में ही लिया जाता है। सौन्दर्य का लक्ष्यार्थ है : मन को आकर्षित करने की शक्ति। और सुन्दर का अर्थ है— इस शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति या वस्तु। आकर्षक या सुन्दर वस्तु का सान्निध्य या उपयोग आल्हादकारी होता है।

आकर्षण सृष्टि संचालन की एक अद्भुत शक्ति है। दर्शन या साहित्य में जिसे आत्मा कहा जाता है, विज्ञान के सदर्भ में वही शक्ति है। मनोविज्ञान में भी 'शक्ति' को सार तत्त्व माना गया है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी प्रत्येक अणु में अमित 'शक्ति' का निवास है। एक प्रकार से वस्तु (Matter) शक्ति (Energy) का ही व्यक्त रूप है। साथ ही वस्तु या द्रव्य के प्रत्येक अंश को शक्ति के रूप में परिणत किया जा सकता है। इस प्रकार आज शक्तिवाद (Energism) की स्थापना हो गयी है।[3] साहित्य की शक्ति सौन्दर्य ही है। इस रूप में यही साहित्य की आत्मा है।

1. R. G. Gollingwood : Principles of Arts, P. 37
2. अठारहवीं सदी में इस शास्त्र का जन्म माना जाता है।
3. Cosmology : Volume I, by D. Nys P. 246 7

भारतीय दर्शनों के अनुसार मानव-जीवन का ध्येय आनन्द-प्राप्ति ही है। योगी समाधि में, साधक साधना में, भक्त भक्ति-प्रक्रिया में, विचारक चिन्तन में आनन्द की ही संसिद्धि का प्रयत्न करते हैं। इस आनन्द की भी चरम परिणति परमानन्द में होती है। *परमानन्द ब्रह्म का पर्यायवाची है तथा पुरुषार्थ चतुष्टय का मोक्ष-कैवल्य* परमपद इसी परमानन्द शीलता का प्रतीक है।

भारतीय दार्शनिक सुन्दरता को भी मानता है। परन्तु सुन्दरता केवल भौतिक वस्तु ही है। सौन्दर्य का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मन तक ही है। अतः वह स्थूल है। भारतीय चिंतकों के अनुसार स्थूल की क्षण-क्षण में परिवर्तमान रूप ही सौन्दर्य की कसौटी है। मन की सीमा तक प्रवहमान यह सौन्दर्य भारतीय दार्शनिक के अनुसार भौतिक सुख या मानसिक तृप्ति तो प्रदान कर सकता है, परन्तु जीवन की समुन्नति के मूल रूप आनन्द की सिद्धि में असमर्थ है। आनन्द आत्मा का धर्म है। *आत्मा परम रूप परमात्मा है और आनन्द का परम स्वरूप परमानन्द।* दोनों ही आध्यात्मिक क्षेत्र तक जाते हैं। इस लोक की परिणति भी परलोक ही में स्वीकार की गई है। भारतीय दार्शनिक की मान्यता में परमात्मा-परलोक एवं परमानन्द ही जीवन की परम गति है। भारतीय काव्यमत के अनुसार 'रस' काव्य की आत्मा है।[1] आस्वादन की प्रक्रिया 'रस' है और यह रसास्वादन आनन्द रूप है। इस प्रकार काव्यास्वादन ही आनन्द है। भारतीय विचारधारा सौन्दर्य की अपेक्षा 'रस' अथवा आनन्द की ओर विशेष झुकी रही है। 'रस' या आनन्द काव्य का [illegible] हृदय है।[2] काव्य शक्ति की सफलता रस या आनन्द प्रदान करने में [illegible] में स्थित आकर्षण-शक्ति ही सौन्दर्य है। विभिन्न साधक उपकर[illegible] सिद्धि की जाती है। सौन्दर्य को आकर्षण-शक्ति का [illegible] मन अपनी समस्त ऐन्द्रिय-वृत्तियों के साथ इसी शक्ति के द्वा[illegible] आनन्द का भोग करता है।

विकास की दृष्टि से सौन्दर्य बोध का उदय मानव [illegible] से ही मानना चाहिये। यह सत्य है कि मनुष्य ने अपने [illegible] की वृद्धि की है और उनकी पूर्ति का उद्योग किया है। पू[illegible] अन्वेषण और संग्रह किया है। परन्तु इन प्रयोजन मूलक [illegible] बोध की वृत्ति भी कार्यशील रही है। यही जन्मजात स[illegible] वीय शिल्प और साहित्य के लिए उत्तरदायी है। यह समस्त

---

1. डा. नगेन्द्र : भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ. 34
2. नाट्यशास्त्र; 6/26
3. अभिनव भारती (द/15) हि[illegible]
   पृ 56

ग्रोर दूसरी ग्रोर सुख ग्रथवा ग्रानन्द की सामग्रियों से भरपूर है। समस्त सृष्टि का मूल कारण भी ग्रानन्द ही है।[1] सर्वदा यह सृष्टि प्राचुर्य मे जन्म लेती है, ग्रभाव मे नहीं।[2] ग्रानन्द ग्रौर रस को समानार्थक भी माना जाता है। परमात्मा को सच्चिदानन्द के साथ ही रस भी कहा गया है।[3] ग्रानन्द चाहे प्रयोजन से पूर्ण रूपेण ग्रसम्बद्ध न हो, पर उसमें प्रयोजन की दासता नहीं है। मनुष्य की साहित्य सृष्टि भी प्राचुर्य की देन है। साहित्य मे ग्ररूप को रूपायित किया जाता है इस मूर्तिकरण या सृष्टि के मूल मे सौन्दर्य या ग्रानन्द की ग्रभिव्यक्ति की भावना है। साहित्य का कार्य ग्रानन्द देना है। ग्रानन्द रस सृष्टि बिना ग्राता नहीं। ग्रतः कवि को रस-स्रष्टा कहा जाता है। रस की सृष्टि से धीमान् व्यक्ति ग्रानन्दित होते हैं।[4] तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य-वृत्ति मनुष्य सृष्टि मे ग्रादिम युग से है। इसका क्रमिक विकास हुग्रा है। सौदर्य वृत्ति ही ग्ररूप को रूप ग्रौर ग्रमूर्त्त को मूर्त्तता प्रदान करती है। यही प्रक्रिया रस-सृष्टि कहलाती है। रस ग्रानन्ददायक होता है। साथ ही यह भी मानना चाहिये कि सौन्दर्य बोध सब मे समान नहीं होता, क्योंकि वह ग्राधारगत वस्तु नहीं, भाव है। एक मानसिक ग्रवस्था है। ग्राकृतिगत सौन्दर्य मे भिन्नता पायी जाती है—किसी को एक प्रकार की ग्राकृति सुन्दर लगती है, किसी को दूसरे प्रकार की। भावगत सौंदर्य मे सार्वदेशिकता ग्रवश्य मिलती है–क्षमा, करुणा, प्रेम, बलिदान ग्रादि का सौन्दर्य सार्वदेशिक रहा है। ये वे मानवीय भावनाएं हैं, जिन्होंने विकासक्रम मे ग्रपना सौन्दर्य प्रतिष्ठित किया है। इनका सौन्दर्य सामाजिक ग्रौर वैयक्तिक संदर्भों मे स्थापित हो गया है।

साहित्य मे भाव का सौन्दर्य ग्राकृति के सौन्दर्य से प्रमुख हो जाता है। साहित्य सृष्टि का वैचित्र्य यह है कि यहां सुखानुभूति ही हमे ग्रानन्द प्रदान नहीं करती: दुःख ग्रौर शोक की ग्रनुभूति भी ग्रानन्द प्रदान करती है। साहित्य मे रूप ग्रौर ग्राकृति का जो ग्राकलन होता है, वह हमारे सौन्दर्य बोध की स्वाभाविक प्रक्रिया से भिन्न भी पड़ सकता है। वास्तविक जीवन का ग्रसुन्दर ग्रौर वीभत्स भी साहित्य सामग्री के रूप में, प्रचुर सौंदर्य का ग्राभास दे सकता है। इस प्रकार साहित्य मे सौंदर्य को भावगत उदारता प्राप्त है।

इस प्रकार प्रसङ्गतः हमने देखा कि सौन्दर्य का वास्तविक जीवन ग्रौर साहित्य सृष्टि मे क्या स्थान है? यहां सौन्दर्य की परिभाषाग्रो पर विचार कर लेना समीचीन

---

1. ग्रानन्दध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते।
2. ग्रानन्दप्राचुर्यात् सृष्टिः न तु ग्रभावात्:
3. रसो वै सः।
4. मधुर रसवत् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता: दण्डी, काव्यादर्श

भारतीय दर्शनों के अनुसार मानव-जीवन का ध्येय आनन्द-प्राप्ति ही है। योगी समाधि में, साधक साधना में, भक्त भक्ति-प्रक्रिया में, विचारक चिन्तन में आनन्द की ही संसिद्धि का प्रयत्न करते हैं। इस आनन्द की भी चरम परिणति परमानन्द में होती है। परमानन्द ब्रह्म का पर्यायवाची है तथा पुरुषार्थ चतुष्टय का मोक्ष-कैवल्य परमपद इसी परमानन्द शीलता का प्रतीक है।

भारतीय दार्शनिक सुन्दरता को भी मानता है। परन्तु सुन्दरता केवल भौतिक वस्तु ही है। सौन्दर्य का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मन तक ही है। अतः वह स्थूल है। भारतीय चिंतकों के अनुसार स्थूल की क्षण-क्षण में परिवर्त्तमान रूप ही सौन्दर्य की कसौटी है। मन की सीमा तक प्रवहमान यह सौन्दर्य भारतीय दार्शनिक के अनुसार भौतिक सुख या मानसिक तृप्ति भी प्रदान कर सकता है, परन्तु जीवन की समुन्नति के मूल रूप आनन्द की सिद्धि में असमर्थ है। आनन्द आत्मा का धर्म है। आत्मा परम रूप परमात्मा है और आनन्द का परम स्वरूप परमानन्द। दोनों ही आध्यात्मिक क्षेत्र तक जाते हैं। इस लोक की परिणति भी परलोक ही में स्वीकार की गई है। भारतीय दार्शनिक की मान्यता में परमात्मा-परलोक एवं परमानन्द ही जीवन की परम गति है। भारतीय काव्यमत के अनुसार 'रस' काव्य की आत्मा है।[1] आस्वादन की प्रक्रिया 'रस' है और यह रसास्वादन आनन्द रूप है। इस प्रकार काव्यास्वादन ही आनन्द है। भारतीय विचारधारा सौन्दर्य की अपेक्षा 'रस' अथवा आनन्द की ओर विशेष झुकी रही है। 'रस' या आनन्द काव्य का फल है, उद्देश्य है।[2] काव्य शक्ति की सफलता रस या आनन्द प्रदान करने में है। काव्य के केन्द्र में स्थित आकर्षण-शक्ति ही सौन्दर्य है। विभिन्न साधक उपकरणों से इस शक्ति की सिद्धि की जाती है। सौन्दर्य को आकर्षण-शक्ति का समानार्थक माना जा सकता है। मन अपनी समस्त ऐन्द्रिय-वृत्तियों के साथ इसी शक्ति के द्वारा आकर्षित होता है और आनन्द का भोग करता है।

विकास की दृष्टि से सौन्दर्य बोध का उदय मानव हृदय में सभ्यता के प्रारम्भ से ही मानना चाहिये। यह सत्य है कि मनुष्य ने अपने विकास क्रम में आवश्यकताओं की वृद्धि की है और उनकी पूर्ति का उद्योग किया है। पूर्ति के लिए सामग्री का अन्वेषण और संग्रह किया है। परन्तु इन प्रयोजन मूलक क्रियाओं के साथ सौंदर्य बोध की वृत्ति भी कार्यशील रही है। यही जन्मजात सौन्दर्य बोध वृत्ति समस्त मानवीय शिल्प और साहित्य के लिए उत्तरदायी है। यह समस्त प्रपञ्च एक ओर प्रयोजन

1. डा. नगेन्द्र : भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ. 347
2. नाट्यशास्त्र; 6/26
3. अभिनव भारती (द/15) हिन्दी अनुवाद पृ 428, रामदहिन मिश्र, काव्यदर्पण पृ 56

और दूसरी ओर सुख अथवा आनन्द की सामग्रियों से भरपूर है। समस्त सृष्टि का मूल कारण भी आनन्द ही है।[1] सर्वदा यह सृष्टि प्राचुर्य में जन्म लेती है, अभाव में नहीं।[2] आनन्द और रस को समानार्थक भी माना जाता है। परमात्मा को सच्चिदानन्द के साथ ही रस भी कहा गया है।[3] आनन्द चाहे प्रयोजन से पूर्ण रूपेण असम्बद्ध न हो, पर उसमें प्रयोजन की दासता नहीं है। मनुष्य की साहित्य सृष्टि भी प्राचुर्य की देन है। साहित्य में अरूप को रूपायित किया जाता है इस मूर्तिकरण या सृष्टि के मूल में सौन्दर्य या आनन्द की अभिव्यक्ति की भावना है। साहित्य का कार्य आनन्द देना है। आनन्द रस सृष्टि बिना आता नहीं। अतः कवि को रस-स्रष्टा कहा जाता है। रस की सृष्टि से धीमान् व्यक्ति आनन्दित होते हैं।[4] तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य-वृत्ति मनुष्य सृष्टि में आदिम युग से है। इसका क्रमिक विकास हुआ है। सौंदर्य वृत्ति ही अरूप को रूप और अमूर्त्त को मूर्त्तता प्रदान करती है। यही प्रक्रिया रस-सृष्टि कहलाती है। रस आनन्ददायक होता है। साथ ही यह भी मानना चाहिये कि सौन्दर्य बोध सब में समान नहीं होता, क्योंकि वह आधारगत वस्तु नहीं, भाव है। एक मानसिक अवस्था है। आकृतिगत सौन्दर्य में भिन्नता पायी जाती है—किसी को एक प्रकार की आकृति सुन्दर लगती है, किसी को दूसरे प्रकार की। भावगत सौंदर्य में सार्वदेशिकता अवश्य मिलती है—क्षमा, करुणा, प्रेम, बलिदान आदि का सौन्दर्य सार्वदेशिक रहा है। ये वे मानवीय भावनाएं हैं, जिन्होंने विकासक्रम में अपना सौन्दर्य प्रतिष्ठित किया है। इनका सौन्दर्य सामाजिक और वैयक्तिक सदर्भों में स्थापित हो गया है।

साहित्य में भाव का सौन्दर्य आकृति के सौन्दर्य से प्रमुख हो जाता है। साहित्य सृष्टि का वैचित्र्य यह है कि यहां सुखानुभूति ही हमें आनन्द प्रदान नहीं करती: दुःख और शोक की अनुभूति भी आनन्द प्रदान करती है। साहित्य में रूप और आकृति का जो आकलन होता है, वह हमारे सौन्दर्य बोध की स्वाभाविक प्रक्रिया से भिन्न भी पड़ सकता है। वास्तविक जीवन का असुन्दर और वीभत्स भी साहित्य सामग्री के रूप में, प्रचुर सौंदर्य का आभास दे सकता है। इस प्रकार साहित्य में सौंदर्य को भावगत उदारता प्राप्त है।

इस प्रकार प्रसङ्गतः हमने देखा कि सौन्दर्य का वास्तविक जीवन और साहित्य सृष्टि में क्या स्थान है? यहां सौन्दर्य की परिभाषाओं पर विचार कर लेना समीचीन

1. आनन्दध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते।
2. आनन्दप्राचुर्यात् सृष्टि: न तु अभावात्:
3. रसो वै सः।
4. मधुरं रसवत् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता: दण्डी, काव्यादर्श

होगा मनुष्य की किसी भी कृति के साथ जब सौंदर्य का संयोग हो जाता है, तो कृति कला संज्ञक हो जाती है। अहं बोध की परिपूर्णता और अहन्ता को साकार करने की क्रिया में मनुष्य सौन्दर्य का अनुभव करता है भारतीय दर्शन के अनुसार अहन्ता की कारणभूत सत्ता अखण्ड चेतन सत्ता है। जब भिन्न प्रतीत होने वाली चेतना अभिन्न स्थिति प्राप्त करती है, तो असुन्दर की सत्ता समाप्त होती है और सुन्दर की अखण्ड स्थापना हो जाती है। इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए कला की परिभाषा देते समय राष्ट्र कवि स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त कहते है :

"सुन्दर को सजीव करती है भीषण को निर्जीव कला"

—साकेत

पाश्चात्य विद्वानो ने अरूप को रूप देने की प्रक्रिया में सौन्दर्य देखा है। वासके की परिभाषा इस प्रकार है : कोई विचार जब इन्द्रियगम्य उपकरणों के माध्यम और आधार से प्रकाशित हो जाता है, तो वही सुन्दर हो जाता है। शापेन हावर ने कहा है : जब अरूप इच्छा कोई आकार ग्रहण कर लेती है, उसी को सुन्दर कहते हैं। प्लाटिनस का स्वर कुछ दार्शनिकता के साथ इसी तथ्य को प्रकट करता है। जब आत्मा किसी रूप या दशा मे प्रकाशित होती है, वही सुन्दरता है। हर्बर्ट स्पेन्सर की परिभाषा यों है : जब अनन्त, सान्त या परिमित हो जाता, है तब वह सुन्दर कहलाता है। इन सभी परिभाषाओं मे किसी बाहरी आकार मे निराकार का प्रकट हो जाना ही सौन्दर्य विधान है। भारतीय मत में उपनिषद् का "एकोऽहम् बहुस्याम" भी सम्भवतः यही है।

प्लेटो ने अपनी परिभाषा को एक भिन्न चिन्तन प्रदान किया है। उनके मत मे सापेक्ष स्थिति में सौन्दर्य नही है : निरपेक्ष स्थिति मे ही सुन्दर का उदय होता है : समय प्रकृति निरपेक्ष रूप से सुन्दर है। निरपेक्ष सुन्दरता से ही सभी वस्तुयें सुन्दर हो जाती है। काटे और फूल दोनों ही सुन्दर है, पर जब फूल से काटे की तुलना करते है, तो सापेक्ष स्थिति उत्पन्न हो जाती है और विभाजन आरम्भ हो जाता है।

उक्त परिभाषाओं में विषयीगत सौन्दर्य पर अधिक ध्यान है। विषयगत सौन्दर्य की इनमें चर्चा नही है। भारतीय दार्शनिक भी विषयगत सौन्दर्य की उपेक्षा करता रहा है। पश्चिम के दार्शनिको ने भी बहुधा विषयगत और विषयीगत सौन्दर्य का समन्वय ही किया है। अरस्तु ने विषयगत सौन्दर्य को मान्यता दी है . जिस वस्तु की रचना मे समुचित क्रम, सानुपातिक-सुडौलपन, सौष्ठव और अवयवों की सगति हो, वह सुन्दर है। पर इस विषयगत सौन्दर्य का परीक्षक या ग्राहक तो चेतन मन ही होता है।

पश्चिम के कुछ कवियों ने भी सौन्दर्य की परिभाषाएं दी है । शेक्सपियर की परिभाषा का सार इस प्रकार है : सौन्दर्य सन्दिग्ध और व्यर्थ है । वह अकस्मात फीका पड़ जाता है । वह एक ऐसा फूल है जो मुकुलित होना आरम्भ करते ही मुरझा जाता है ।[1] सम्भवतः यहां कवि का अभिप्राय विषयगत सौंदर्य से है । वह भौतिक उपकरणों पर आधारित होता है और यह आकार शाश्वत नहीं है । अहन्ता के प्रतिबिम्ब और मूर्तिकरण के तत्वों की शैली को परिभाषा आत्मसात् करती प्रतीत होती है । अपने ही स्वाभाविक रंग के सारभूत तत्त्व से सौंदर्य अनुप्राणित होता है । मानव के विचार के आकार पर जितनी ही तेरी झलक पड़ती है, उतना सब सुन्दर है ।[2] एक फ्रेंच लेखक के अनुसार सौन्दर्य के लिए बाह्य अलङ्कारों की आवश्यकता नहीं है ।[3]

उक्त परिभाषाओं के आधार पर सौंदर्य के तीन तत्त्व माने जा सकते है : (i) सौंदर्य विषयगत भी होता है और विषयीगत भी (ii) सौन्दर्य अमूर्त को भी मूर्त रूप देते है—अमूर्त का सौन्दर्य मूर्त उपादानों के माध्यम से निखरता है : तथा (iii) अहन्ता को प्रतिबिम्बित करना ही सौन्दर्य सृष्टि है । एक और तथ्य निरपेक्ष स्थिति का है, इस स्थिति मे सब कुछ सुन्दर है ।

माघ ने शिशुपाल बध मे विषयीगत और विषयगत दोनों का सन्तुलन करते हुए सौन्दर्य की परिभाषा दी है । नवीन के प्रति सभी का आकर्षण होता है । कालगति से यह आकर्षण क्षीण होता जाता है । माघ की दृष्टि से जहां यह लौकिक क्रम पलट जाता है, वहीं सौन्दर्य है—जो रूप क्षण क्षण नवीनता प्राप्त करे, वही सुन्दर है—

> दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववत् विस्मय मा ततान ।
> क्षणे क्षणे मानवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥
>
> —शिशुपाल बध

इस प्रकार मन का किसी वस्तु से रागात्मक सन्तुलन ही सौंदर्य का विधायक है । विषय और विषयी का सन्तुलन बिगड़ना नहीं चाहिये । जब यह सन्तुलन बिगड़ता है तो दो स्थितियां सम्भव है । एक तो मन का उद्दीप्त हो जाना और वस्तु का हलका हो जाना, दूसरे वस्तु का पक्ष भारी हो जाना और मन का उसकी ओर सहज आकृष्ट होना । पहली स्थिति में घृणास्पद कुरूपता का बोध होता है और दूसरी में सुन्दरता का । सौंदर्य के लिए रागात्मक सन्तुलन नितान्त आवश्यक है ।

---

1. 'Beauty is but a vain doubtful good,a shining glass that fadeth suddenly, flower that dies when it begins to bud."
2. "Spirit of beauty, that does consecrate with thine own bues, all, thou dost shine upon human thought or form........"
3. "Loveliness needs not the aid of foreign ornament, but is when unadorned, adorned the most."

सौंदर्य की कुछ परिभाषाएं सत्य और शिव के साथ भी सम्बद्ध हैं। कीट्स ने कहा-सुन्दर ही सत्य है।[1] इसमें कीट्स ने सत्य और सुन्दर के अभेद को स्वीकार किया है। टेनीसन ने सत्य, शिव और सुन्दर को तीन बहनों के रूप में स्वीकार किया है।[2] इमर्सन के अनुसार सत्य शिव और सुन्दर एक ही परमेश्वर की विभिन्न दशाएं है। बामगार्टन ने कहा - सत्य, शिव, सुन्दर परमात्मा के गुण है। रवीन्द्र ने भी एक स्थान पर लिखा है : मै सुन्दर और सत्य, को एक मानता हूं। गुलाबराय जी ने और स्पष्ट करते हुए कहा : "हमारे विचार में कर्त्तव्य-पथ पर सत्य शिव बन जाता है और भावना से समन्वित होकर सुन्दर के रूप में दर्शन देता है।" सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में :

> वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
> हृदय में बनता प्रणय अपार ।
> लोचनों में लावण्य अनूप,
> लोक-सेवा में शिव अधिकार ।।

इन कतिपय परिभाषाओं के प्रकाश में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्य, सुन्दर और शिव के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। वस्तुतः एक ही तत्त्व का इन तीन रूपों में परिचय दिया जाता है। जो वास्तव में सुन्दर होता है, वह सत्य और शिव से विच्छिन्न नहीं हो सकता। इन तीनों के सम्मिलन में ही पूर्णता है।

सत्य विभिन्न रूपों में ग्राह्य है। दार्शनिक दृष्टि से जो अटल, अखण्ड और शाश्वत है, वही सत्य है। वैज्ञानिक सत्य वस्तुगत सत्य है। इसका दर्शन निरपेक्ष रूप में किया जाता है। इतिहासकार सत्य को समय-चक्र के परिवेश में देखता है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सत्य में कल्पना के लिए स्थान नहीं होता। वैज्ञानिक सत्य को जीवन-सन्दर्भ से अलग करके देखता है। वह सत्य को सुन्दर या शिव के साथ देखना नहीं चाहता। अथवा यों कहना चाहिए कि एक ही तत्त्व के सत्य पक्ष का वैज्ञानिक उद्घाटन करता है। धर्म-प्रवर्तक शिव को महत्व देते आये हैं। कलाकारों ने सौंदर्य के अन्वेषण और उसकी अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी है। कलाकार ने वैसे सत्य और शिव की उपेक्षा नहीं की है पर उन दोनों तत्त्वों को कल्पना की शक्ति से उसने सुन्दर से आवृत करके प्रकट किया है। ऐतिहासिक भी सत्य की सुन्दरता की परवाह नहीं करता। गांधीवादी प्रयत्नों का देश की स्वतन्त्रता के इतिहास में जो वर्णन मिलता है उसमें दृष्टि ऐतिहासिक है। उसी सत्य का उद्घाटन प्रेमचंद के कहानी-उपन्यासों

1. Beauty is truth, truth is beauty, that is all, ye ought to know.
2. Beauty, good and knowledge are three sisters.

ग्रौर मैथिलीशरण गुप्त के काव्य मे भी मिलता है। इतिहासकार तटस्थ है, साहित्यकार मानव-भावों के सार से सत्य को सम्पृक्त कर देता है । इतिहास का सत्य विशिष्ट व्यक्ति या घटना के ग्राश्रय मे चलता है ग्रौर काव्य का सत्य सामान्य मानव के भाव संघटन का सदर्भ ग्रहण करके व्यापक हो जाता है। यही ऐतिहासिक सत्य की सुन्दर परिणति है । ऐतिहासिक सत्य कङ्कालवत नग्न होता है : साहित्यकार उसमें सजीवता फूंक कर ग्रहण करता है, गुप्तजी ने साकेत मे कहा है : कला का धर्म सुन्दर को सजीवता प्रदान करना ही है।

वैज्ञानिक का सत्य भी कलाकार का उपजीव्य नहीं हो सकता । विज्ञान का स्थूल ग्रौर वस्तुगत सत्य साहित्य की ग्रावश्यकता की पूर्ति नही करता । जब यह सत्य मनुष्य के जीवन से सम्पृक्त हो तो वह साहित्य बन जाता है। ग्रनुभूति विषय की नही होती, वह विषय के द्वारा होती है। विषय तो माध्यम है। ग्रनुभूति एक प्रकार का उद्घाटन (Revelation) है। किसी विषय के सम्पर्क में ग्राने पर मानव प्रतिक्रिया के रूप मे ग्रनुभूति प्रकट हो जाती है। पुष्प ग्रौर ग्रोस की बूंदें विषय हैं। इसका परिज्ञान वैज्ञानिक को, दार्शनिक को ग्रौर साहित्यिक को समान रूप में होता है। परन्तु सबकी ग्रनुभूति प्रक्रिया पृथक् है। वैज्ञानिक उस विषय के वस्तुगत सत्य की खोज मे लग जाता है। उसकी प्रतिक्रिया वस्तुन्मुख होती है। दार्शनिक उसी विषय मे संसार की नश्वरता के सत्य को खोज सकता है। उसकी प्रतिक्रिया बौद्धिक जागरूकता के एक रूप को प्रकट करती है, पर साहित्यिक उस विषय को भावोन्मुख कर देता है। विषय ग्रौर ग्रनुभव छूटता जाता है ग्रौर उसका भावगत सौन्दर्य ग्रनुभूति बनाता जाता है। यह ग्रनुभूति ग्रभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया में प्रकट होती है। सत्य ग्रपने नग्न रूप मे मानव-वृत्तियो को ग्राह्य नही, उनको सग्राह्य बनाने के लिए ही कवि की साधना है, साहित्यकार की साहित्य-सृष्टि है।

इस साधना मे कल्पना का सम्बल कवि को प्राप्त होता है । सत्य ग्रौर कल्पना मे तात्विक ग्रन्तर नही है। कल्पना ग्रनुभव-जन्य सत्य को एक नवीन ग्राकार के रूप मे प्रस्तुत करती है। काव्य का मूल-ग्रभिप्राय सुन्दर है। उसके ग्रनुकूल सत्य का बनाने का कार्य कल्पना का है। कल्पना सत्य को नवीन ग्राकार देकर उसे ग्राह्य बनाती है। सत्य की शुष्क शिराग्रो मे कल्पना रागात्मकता सञ्चरित कर देती है। सत्य कल्पना से इस प्रकार राग-सञ्चरित होकर ग्रनुभूति का विषय बनता है। स्थूल, वास्तव-सत्य किसी समय मे तिरस्कृत हो सकता है, पर कल्पना द्वारा संस्कृत ग्रनुभूति-प्रवण सत्य काल के ग्रनुशासन को इस प्रकार स्वीकार नही करता।

कवि चाहे निरंकुश होता हो (निरंकुशयो-कवयः) पर सत्य की ग्रवहेलना नही कर सकता। निरंकुशता का तात्पर्य यह है कि कवि ग्रनावश्यक दमन को स्वीकार

नहीं करता है। कवि सत्य की यथार्थ सीमाओं को तो स्वीकार करता है पर खण्ड सत्य को, कल्पना और भावुकता को विस्तृत करके उसे अखण्ड बना देने के अधिकार को भी वह नहीं छोड़ता है। सत्य की भावात्मक विस्तृति में सत्य का तिरस्कार नहीं, उसकी अन्तर्मुख व्यापकता की ही प्रतिष्ठा है। लौकिक, अलौकिक, प्रत्यक्ष, परोक्ष का समन्वय करके कवि एक वृहत्तर काव्य की स्थापना करता है। भावात्मक विस्तृति का अधिकार न ऐतिहासिक को है और न वैज्ञानिक को। इसी अधिकार के उपभोग के कारण कवि को निरंकुश कहा जाता है।

शिव एक सामाजिक सत्य है। समाज में अशिव भी है और शिव भी : अन्धकार भी है और प्रकाश भी। साहित्य का लक्ष्य है 'शिवेतर क्षतये'। यहीं आदर्श और यथार्थ का प्रश्न आ जाता है। यथार्थ जगत् में अशिव, दुःख, पीड़ा, निराशा आदि का साम्राज्य दिखलाई पड़ता है। शिव कहीं-कहीं लुप्त, दुर्बल या पराजित भी मिलता है—चाहे यह सब क्षणिक ही हो, तो भी कवि को यथार्थ का चित्रण करना है। 'प्रत्यक्ष विनश्वर में जो परोक्ष अविनश्वर की खोज करता है, वह दार्शनिक आत्म-प्रवञ्चक है, ऐसे स्वर कभी कभी सुनाई पड़ते हैं पर परोक्ष के तिरस्कार करने का अर्थ होगा, भविष्य का भी तिरस्कार करना। प्रत्यक्ष की प्रगति इसी विश्वास पर है कि परोक्ष में भविष्य भी है और वह अतीत के एक सूत्र से आबद्ध भी है। इसी परोक्ष-भविष्य के चित्रण में कल्पना एक शिवमय आदर्श की सृष्टि करती है, जो प्रत्यक्ष या यथार्थ चाहे न हो, पर मनुष्य के भावात्मक और सम्भावना-सत्य के विपरीत नहीं। बिना इस परोक्ष सत्य के प्रत्यक्ष अपना सत्य ही खो देता है। 'आदर्श' को पलायनवाद कह कर ठुकरा देना उचित नहीं है। हाँ, इतना अवश्य देखना होगा कि वह आदर्श वास्तव में ही पलायन, मिथ्या या प्रगति-विरुद्ध तो नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो जो 'आदर्श' जितनी ही पूर्णता का चित्र उपस्थित करेगा, वह उतना ही श्लाघ्य होगा। यही आदर्श दर्शन को, धर्म को और साहित्य को 'शिव' की ओर ले जाता है। इस आदर्श की विजय और उपलब्धि में शिवत्व की स्थापना है।

इस शिव की स्थापना और प्रतिपादन उपदेश बन कर नहीं रह जाने चाहिए। सत्य और सदाचारगत शिवत्व को साहित्य में सुन्दर से समन्वित रहना चाहिए। उपदेश भी हो तो कान्ता की मधुर मुस्कराहट से छलकता हुआ। सुन्दर से विच्छिन्न शिव सम्बन्धी शब्द-विधान प्रचार का साधन बन जाता है। साहित्य को शिव बनना है, जो यथार्थ के विष से दूर नहीं भागता, पर जो अमृतमय चन्द्रमा और सर्वहिताय सुरसरि को धारण करता है वह यदि ताण्डव भी करे तो उसका लक्ष्य नवनिर्माण होना चाहिए।

तात्विक दृष्टि से इन तीनों में अन्तर नहीं है। लौकिक जीवन में इनकी अभेद स्थिति प्रायः नहीं मिलती। तीनों मे भेद दृष्टिगत होता है पर कलाकार अपनी कल्पना और भावना के द्वारा इन तीनों के समन्वय की चेष्टा करता है। इन तीनों के न मिलने पर जीवन की विडम्बना ही हाथ लगती है। विडम्बना का रूप कुछ ऐसा होता है :

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सकें,
यह विडम्बना है जीवन की।
—प्रसाद (कामायनी)

कलाकार इस विडम्बना को दूर करने के लिए एक 'श्रद्धा' की सृष्टि करता है जो सत्यं, शिवं, सुन्दरं की प्रतीति होने वाली भेद-स्थिति को अभेद मे बदल देती है। यद्यपि लोक सुन्दर व्यक्ति की रुचि की सापेक्षता मे आता है और युग रुचि भी उसे प्रभावित करती है। इस बात को तुलसी ने यों कहा है :

कहहि काह कवि नीक जो भावई।[1]

बिहारी ने भी रुचि की सापेक्षता को माना है—

समैं समैं सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।[2]

परन्तु सुन्दर की वह स्थिति भी हो सकती है, जो सर्व सामान्य रुचि को संतुष्ट कर सकती है। सुन्दर की इतनी घनीभूत विजय हो सकती है कि असुन्दर का अस्तित्व ही-कुछ क्षणो के लिए ही सही-तिरोभूत हो जाये। सत्य, शिव और सुन्दर को संकुचित सीमाओं में ग्रहण करने से समन्वय कठिन हो जाता है। इनकी सीमाएं जितनी ही विस्तृत होती जायेंगी, इनकी अभेदता सिद्ध होती जायगी। इन तीनों की अभेदता की स्थापना ही सच्चे कलाकार का लक्ष्य है। इसलिये उपनिषदों ने 'प्रेय' से 'श्रेय' की ओर चलने का आदेश दिया है।[3] कलाकार जब श्रेय की साधना में कृतकार्य होता है, तब सत्यं, शिवं, सुन्दर मे भेद प्रतीत होने लगता है।

मूलतः साहित्य सौन्दर्य का साधन-क्षेत्र है। जब सौंदर्य रूप लेता है तो सत्य और शिव की भी उसमें स्वाभाविक स्थिति होती है। वास्तविक, श्रेयपरक सौंदर्य

1. पार्वती मङ्गल।
2. बिहारी सतसई।
3. अन्यच्छ्रेयो ऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषांसि नीतः।
तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते ॥
कठोपनिषद।

सत्य और शिव से विच्छिन्न नहीं हो सकता। मूलतत्व के सौंदर्य पक्ष को ही कलाकार पहले प्रकट करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सौंदर्य के उद्घाटन के समय सत्य और शिव का अभाव हो जाता है। इन दोनों की छवि सौंदर्य के माध्यम से ही स्पष्ट होती है। यदि विभाजन सम्भव भी हो तो भी हम इनको विभाजित रूप में देखना नहीं चाहते। इनका इतना घनिष्ट सम्मिलन है कि उसके विच्छिन्न स्वरूप का अनुमान भी नहीं हो सकता। रवीन्द्र ने एक बार कहा था कि संसार में, सत् चित् आनन्द मिले हुए ही कार्यशील है। ज्ञान की लेबोरेटरी में इनको विश्लिष्ट करके देखा जा सकता है। पर वास्तव में वे विच्छिन्न हैं। लकड़ी जो चीज है, वह गाछ (वृक्ष) नहीं है। उसमें रस लेने की प्राण धारण करने की जो शक्ति है वह भी गाछ नहीं है। वस्तु और शक्ति को समग्रता को लपेटे हुए जो एक अखण्ड प्रकाश है वास्तव गाछ वही है। वही वस्तुमय, शक्तिमय, और सौंदर्यमय है। इसीलिये वह आनन्द भी दे सकता है। साहित्य में भी इसी प्रकार सबकी स्थिति है। उसकी वस्तु और शक्ति समन्वित होकर आनन्द दे सकती है।

मनुष्य में तीन प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य है : सौन्दर्यवृत्ति (एस्थेटिक्स), शिव (विलमोरल फैकल्टी) तथा सत्यान्वेषण वृत्ति (इन्टेलेक्चुअल फैकल्टी)। पहली वृत्ति गुण से अनुरञ्जित रहती है। दूसरी का विषय शिव या कल्याण है। तीसरी शक्ति गुण और कार्य का सम्यक् निरीक्षण करती है। उन पर यही विचार भी करती है। ये अलग अलग होने पर भी, अलग अलग देखने में नहीं आती। इनमें से किसी को न्यूनाधिक महत्वपूर्ण भी नहीं कहा जा सकता। जहां एक का अस्तित्व है, वहां दूसरी वृत्तियां भी स्वतः स्थित मान लेनी चाहिए : चाहे किसी समय सक्रिय एक ही प्रतीत हो। सत्य, शिव, सुन्दर का भी आधार इन्हीं वृत्तियों में है। इनमें भी इसी प्रकार का अंगागी-सम्बन्ध है। यह एकत्व मानव की वृत्तियों को ध्यान में रखकर स्थापित किया गया है। इसी आधार पर अभेद-एकता को मानव धर्म के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। यही जीव का स्वरूप है।

उपनिषद् में ब्रह्म के तीन रूप माने गये हैं : सत्य ज्ञान और अनन्त।[1] मानवात्मा में भी यही तीन रूप प्रतिच्छायित हैं। सत्य का तात्पर्य है सत् सत्ता अस्तित्व-हम हैं।[2] ज्ञान का तात्पर्य यह है कि हम जानते हैं। अनन्त का तात्पर्य यह है कि हम व्यक्त करते हैं। पहले रूप का सम्बन्ध आत्म रक्षा की भावना से है। यह आकांक्षा सर्वत्र व्यापक है। रक्षा विधान में मनुष्य की बुद्धि और शक्ति प्राणपण से

---

1. सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म
2. कामायनी का मनु इसी को यों कहता है : 'मैं हूं,' यह वरदान सदृश क्यों लगा गूंजने कानों में।"

परम् सत्य जीवन का लक्ष्य है। सत्य ज्ञान-साधित होता है। सत्य की जब खोज होती है, ज्ञान के आलोक मे उसके नये नये रूप प्रकाशित होते है इसीलिए सत्य अनन्त है पर अनन्त सत्य का मानवमन इस विचित्रता मे ग्रहण नही कर पाता। शिव को भी वह पूर्ण रूप से पकड नही पाता। इसी प्रकार चाहे पूर्ण सौन्दर्य भी उससे दूर रहता हो, पर सत्य, शिव और सुन्दर के जिस रूप का उसे आभास मिलता है, उसी की साधना मे वह लग जाता है। भारत मे सौन्दर्य की प्रेरणा सदैव ही आध्यात्मिकता से मिलती रही। मनुष्य और प्रकृति का सौन्दर्य भी आध्यात्मिक सौन्दर्य का ही आभास कराता रहा। उसे भारतीय मनीषा ने कभी अन्तिम नही माना। प्रकट सौन्दर्य के मूल-केन्द्र की ओर उसकी साधना गतिशील रही। भक्ति साधना में आध्यात्मिक साधना अपने चरम विकास को पहुच गयी। वैष्णव कवियो ने अनंत सौंदर्य के रूप में ईश्वर को देखा। वह सौंदर्योपासना धीरे धीरे सत्य और शिव का उद्घाटन भी करती हुई साध्य के अन्तिम रूप को प्रकट कर देती है।

ऊपर सत्य शिव सुंदरम् की पाश्चात्य और पौरस्त्य दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की गयी है। सत्य की वैज्ञानिक और सामाजिक व्याख्याएँ भी इस सिद्धान्त के साथ सलग्न हुई। विज्ञान हमको प्रकृति विजय की प्रेरणा भी देता है और इस अभियान के लिए उचित पद्धतियाँ और आवश्यक शक्तिया भी जुटाता है। विज्ञान की यह निरपेक्ष स्थिति समाज सापेक्ष स्थिति बनती है। मनुष्य एक ऐसा समाज चाहता है जो अज्ञान और अन्याय से मुक्त हो। इसलिए वैज्ञानिक सत्य और तत्संबंधी ज्ञान का जनतंत्रीकरण या सामाजिकीकरण आवश्यक होता है। एक्टिविस्ट दार्शनिक सदा सत्य के वस्तुपरक (objective) रूप का पक्ष लेता रहा। उन्होने 'आफिशियल ट्रुथ' का कभी पक्ष नही लिया।

वैदिक ऋषि ने स्पष्ट घोषित किया था कि सत्य का मुख स्वर्ण के ढक्कन से ढका हुआ रहता है। यह ढक्कन सत्य नही है। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि समृद्धि सत्य को ढक लेती है। समृद्धि के इस ढक्कन से सत्य को यदि मुक्त करना है तो इस ढक्कन को नष्ट करना होगा। सत्य किसी व्यक्ति या समूह की बपौती नही है। मनुष्य का यह मूल अधिकार है कि वह सत्यान्वेषण करे और सत्य को जाने। सत्यान्वेषक व्यवस्थित प्रचारवाद से मुक्त होकर अपना रास्ता बनाता है।

सत्य का जानना मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। इतिहास मे हम यह भी देखते हैं कि सत्ताधारी सत्य सूचनाओ को छुपाते हैं अथवा उस को एक दूसरा रंग देते है अथवा वे सत्य के बुनियादी तथ्यों को झुठलाते हैं। इन शक्तियो से सत्य की रक्षा करनी है। इसीलिए सत्य को ग्रहण करते समय सावधान रहना है। सत्य को केवल इसलिए ग्राह्य नहीं समझ लेना है कि वह किसी विशेष संस्था, सम्प्रदाय,

को आभास-दर्शन से ही शांति पाती है। उसकी कामनाओं का या क्रियाओं का आनन्द शिव मे निहित है। तीनों के समन्वित रहने पर मनुष्य अन्तर्बाह्य अविकल रहता है। इस अविकलता से उसे प्यार है। विकलता उक्त तीनो मूल्यों की विकंपित अवस्था है। साहित्य का लक्ष्य भी मनुष्य के सामान्य लक्ष्य से भिन्न नहीं होता। रस-सिद्ध कवि की प्रातिभ-साधना तीनों मूल्यों को लेकर चलती है। वस्तुतः ये तीनों अपने मूलरूप और अन्तिम परिणति में एक ही हैं। काव्य में तीनो की स्थिति तो अवश्य रहती है, पर वहां सुन्दर ही प्रमुख रूप से साध्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में : "सुन्दर और कुरूप-काव्य के बस ये ही दो पक्ष हैं। शुद्ध काव्य क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखायी जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर।"[1] सौन्दर्य की विस्तृति की चर्चा करते हुये उन्होने लिखा है : "कविता केवल वस्तुओं के ही रूप-रंग की छटा ही नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।"[2] वास्तव मे सौन्दर्य की यह कर्मगत और भावगत विस्तृति ही शिव और सत्य के समकक्ष हो जाती है।

———

1. चिन्तामणी, प्रथम भाग, पृष्ठ 167।
2. चिन्तामणी, पृष्ठ 166।

३.४ यथार्थ और आदर्श

इन दोनों शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता रहा है। राजनैतिक मतों के अनुसार इनके विभिन्न अर्थों को ग्रहण किया जाता रहा है। साम्यवादी आदर्शवाद को एक प्रकार से समझता है और यही आदर्शवाद पूंजीवादी की दृष्टि मे कुछ और है। इसी प्रकार यथार्थवाद की व्याख्याएं होती है।

साम्यवादी यह मानता है कि आदर्शवाद की आधार-शिला इस भौतिक जगत से परे एक पारलौकिक सत्ता का विश्वास है जो आस्तिकतावादी धर्म संसार मे प्रचलित है, वे सभी आदर्शवादी हैं। वह पारलौकिक सत्ता भौतिक सृष्टि में रहने और इसे सञ्चालित करने वाला एक चेतन तत्त्व है। वही भौतिक जगत् रूप कार्य का आदि कारण है। साम्यवादी इस विचार-दर्शन से सहमत नहीं है। उसके अनुसार यह भौतिक जगत् ही सत्य है। इसके मूल में कोई रहस्यमय चेतन तत्त्व नही है जो इस दर्शन को स्वीकार करके चलता है, उसे यथार्थवादी कहा जाता है आदर्शवादी के अनुसार वह चेतन तत्त्व भौतिक जगत् का कारण, नियामक और इस जगत् के नष्ट हो जाने पर भी स्थित रहने वाला है। यथार्थवादी की दृष्टि मे ऐन्द्रिय भौतिक जगत् द्वन्द्व के कारण स्वतः विकसित हुआ है। इसके कारण के रूप मे किसी चेतन तत्त्व में विश्वास करना भ्रम है और यह विश्वास पूंजीवाद का पोषक और समाजवाद का बाधक होता है। इसी चेतन तत्त्व की व्याख्या एक काल्पनिक लोक के आनन्द की ओर जनता को ले जाने की चेष्टा करती है जिससे शोषित जन जीवन के यथार्थ संघर्ष से विमुख हो जाता है। इसी के आधार पर भाग्यवाद जैसे प्रतिक्रियावादी मूल्य बल पकड़ते हैं और प्रगति की आस्था डगमगा जाती है।

पूंजीवादी दार्शनिक इन्हीं की एक और प्रकार से व्याख्या करता है। इसके अनुसार भौतिक द्वन्द्व से जगत् के रचना-विकास के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। 'कार्य' का कोई 'कारण' अवश्य होना चाहिए। 'कारण' कार्य जैसा दृश्य ज्ञात ही सदा नहीं रहता। इसी कारण रूप चेतन तत्व को ईश्वर—प्रतीक के

यह मानवजाति के प्रेम के लच्छेदार और मधुर मुहावरे घोषित नहीं करता। इसका ध्येय संसार भर के सर्वहारा को पूंजीवाद के शर्मनाक, खूनी और घोर बहशी जुए से स्वतन्त्र करना है, व लोगों को यह सिखाना है कि वे स्वयं को नक्कूशाहो (Philistnics) के निमित्त स्वर्ण और विलासोपकरण जुटाने के लिए कच्चे माल के रूप में क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुएं न समझें। पूंजीवाद विश्व को उसी तरह लांछित करता है जिस प्रकार कि एक जीर्ण वृद्ध, जो जीर्णावस्था के रोगों का गर्भाधान कराने के अतिरिक्त नपुंसक है, एक स्वस्थ युवा स्त्री के प्रति अतिक्रमण करता है। सर्वहारामानववाद का कार्य एक श्रमजीवी से प्रेम की प्रतीकात्मक घोषणाएं नहीं मांगता वह हर मजदूर से अपने ऐतिहासिक मिशन की चेतना की सत्ता पाने के अधिकार की ....धन लोलुपों से .. ....परोपजीवियों से, फासिस्टों तथा हत्यारों से अमिट घृणा की, उन सब तथ्यों से जो कष्ट के कारण हैं और उनसे जो करोड़ों लोगों के कष्ट पर जीते हैं, घृणा की मांग करता है।[1] इस प्रकार मार्क्सवादी यथार्थवाद में वर्ग-चेतना चरम् कोटि की रहती है। इसमें मानव-मन के परिवर्तन पर विश्वास नहीं किया जाता। कलाकार को समाजवादी समाज की स्थापना के लिए सतत् प्रयत्न करना चाहिए और इसके लिए सक्रिय सहयोग भी देना चाहिए। साथ ही गोर्की ने साहित्यिकों पर पार्टी के नियन्त्रण का भी समर्थन किया है। उसके अनुसार लेखक भी पार्टी का सदस्य होता ही है। पार्टी का उद्देश्य है दुनियाभर के मजदूरों को आजादी की आखिरी लड़ाई लड़ने के लिए संगठित करना। एक नेता के रूप में लेखक को एक सामूहिक दायित्व की चेतना जगानी है।[2] गोर्की के अनुसार समाजवादी यथार्थवाद यह घोषित करता है कि जीवन कर्म है, रचनात्मक है। जीवन का उद्देश्य है मनुष्य के सर्वोत्तम वैयक्तिक महान् आनन्द के लिए निर्बाध विलास। पृथ्वी को आवश्यकता के अनुसार सम्पन्न करके, –से संयुक्त मानव जाति के लिए एक भव्य निवास-स्थान बनाना है।[3]

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार जीवन का यथार्थ चित्रण ही कला की कसौटी है। इस चित्रण का उद्देश्य है समाजवाद का प्रसार। साम्यवाद के अनुसार आज का संसार वर्ग समाज से,

मार्क्सवादी यथार्थवाद साहित्य और वर्ग-संघर्ष का अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। वर्ग-संघर्ष की स्थितियों से साहित्य-रचना अवश्य प्रभावित रही है। सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं में साहित्य-प्रातिभ साधना के मूल-शासक या शोषक वर्ग की सेवा में समर्पित होते रहे हैं। इन व्यवस्थाओं में भी श्रेष्ठ कलाकारों ने शोषक-शोषित वर्गों के सम्बन्धों पर टिका-टिप्पणी भी की है। उन्होंने उत्पीड़ित और विपण्ण मानवता के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त की है। विकासोन्मुख शक्तियों का उद्घाटन और समर्थन भी किया गया है। अपने वास्तविक रूप में वह क्रांतिकारी वर्ग का विचारक भी बन जाता है। अतीतस्थ प्रगतिशील मानवतावादी परम्पराओं से इस प्रकार का क्रान्तिचेता कलाकार अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

मार्क्सवाद के अनुसार आज जितनी विषमताएं और विरूपताएं सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो गई हैं, उनका मूल कारण पूंजीवादी व्यवस्था ही है। शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है : दो सौ वर्ष पहले का इतिहास साक्षी है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धों का कोई न्याय-संगत मानवोचित या कहें 'डेमोक्रेटिक' नियमन असम्भव सिद्ध हुआ है, कि पूंजीवाद वर्ग-वैषम्य, शोषण, भुखमरी, बेकारी जातिभेद और युद्धवाद जैसी कुरसाओं का जनक और पोषक रहा है। पूंजीवाद में विज्ञान का उपयोग उत्पादन बढ़ाने और विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए किया जाता रहा है और अबुद्धिवाद का प्रयोग सामाजिक चेतना को खोखला करने के लिए। फलतः पूंजीवाद में व्यक्ति और समाज के जीवन को खतरा बढ़ता जाता है।[1] निराशावादी कलाकार वर्तमान स्थिति को अचल मान लेता है और वर्तमान पूंजीवादी सभ्यता के विनाश में उसका विश्वास नहीं जम पाता। कलाकार का [illegible] है कि वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का पक्षधर बने।

द्वारा प्रकट किया जाता है साथ ही जड़ से चेतन का विकास नहीं हो सकता। चेतन का आधार बन कर भौतिक जड का विकास-विन्यास होता है। साम्यवादी के जड़ तत्व के गुणात्मक परिवर्तन को पूंजीवादी विचारक स्वीकार करके नहीं चलता वे चेतन और जड मे पूर्वापर सम्बन्ध मानते है। इन दार्शनिकों की दृष्टि में चेतन तत्व का निषेध करने वाला ही यथार्थवादी है।

इन दोनों के अर्थ का एक व्यावहारिक पक्ष भी है। यथार्थ जीवन का वास्तव प्राप्तव्य है। जो प्राप्त न हो सके वह आदर्श है। इस व्याख्या के आधार पर पूंजीवादी साम्यवादी को आदर्शवादी मानता है। साम्यवादी एक वर्गहीन समाज की कल्पना करता है। इस समाज मे वर्गगत-शोषण समाप्त हो जाता है। वर्ग-सम्बन्ध शोषण के आधार पर निर्धारित नही होते। वर्गहीन समाज मे व्यक्तिगत प्रतियोगिता का स्थान सामूहिक सहयोग की भावना ले लेती है। आधि-व्याधि को सदा के लिए वहां विदा दे दी जायेगी। पूंजीवादी दार्शनिक के अनुसार यह स्थिति असम्भव है; केवल आदर्शवाद है। अतः साम्यवादी परले सिरे का आदर्शवादी है। यथार्थ पूंजीवादी दर्शन है जो पूर्ण समता के भाव को असम्भव मानता है। यही जीवन का वास्तव है। अधिकार और संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य मे प्रकृति-बद्ध है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर विषमता न्यूनाधिक रूप मे बनी रहेगी। प्रयत्न केवल इस बात का करना चाहिए कि सभी की मौलिक आवश्यकताएं पूर्ण हो जायं। इस पूर्ति के पश्चात् जो विषमता बनी रहती है या बनी रहेगी, वही जीवन का यथार्थ है। पूंजीवादी की दृष्टि में ये प्रवृत्तियां प्राकृतिक नहीं हैं, सभ्यता के विकास से पूर्व जो आदिम साम्यवाद की स्थिति थी, उसमे ये इच्छाएं नहीं थीं। इतिहास-क्रम में इन प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। अतः हमारे प्राप्तव्य साम्यवाद मे भी ये नही रहेंगी। इस दृष्टि से साम्यवाद को आदर्शवाद मानना निरा भ्रम है। साहित्य मे भी इन्ही मान्यताओं की परिणति मिलती है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद की मनमानी व्यवस्थाएं चलती है। सामान्य रूप से साहित्य में मार्क्सवाद या समाजवाद के ऊपर आधारित यथार्थवाद ही मान्य है।

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार कलागत मूल्यों का निर्धारण अर्थ के आधार पर होता है, पर कलाकृतियां आर्थिक प्रयत्नों का यौगिक प्रतिबिम्ब मात्र नहीं हैं। यथार्थवादी वर्गों के आर्थिक सम्बन्धों और संघर्षों को सीधे चित्रित नहीं करता। यदि इस प्रकार के चित्र मिलते भी हैं, तब भी इनका उद्देश्य संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ का चित्रण ही होता है। काव्यगत तत्वों की स्थिति का भी इस यथार्थवाद मे पूर्ण निषेध नहीं है, पर भावों का उत्तेजन और उद्रेक आर्थिक प्रेरणाओं से निरपेक्ष नहीं होता।

मार्क्सवादी यथार्थवाद साहित्य और वर्ग-संघर्ष का अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। वर्ग-संघर्ष की स्थितियों से साहित्य-रचना अवश्य प्रभावित रही है। सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं में साहित्य-प्रातिभ साधना के मूल-शासक या शोषक वर्ग की सेवा मे समर्पित होते रहे हैं। इन व्यवस्थाओं मे भी श्रेष्ठ कलाकारो ने शोषक-शोषित वर्गों के सम्बन्धो पर टिका-टिप्पणी भी की है। उन्होने उत्पीडित और विपण्ण मानवता के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त की है। विकासोन्मुख शक्तियो का उद्घाटन और समर्थन भी किया गया है। अपने वास्तविक रूप मे वह क्रांतिकारी वर्ग का विचारक भी बन जाता है। अतीतस्थ प्रगतिशील मानवतावादी परम्पराओ से इस प्रकार का क्रान्तिचेता कलाकार अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

मार्क्सवाद के अनुसार आज जितनी विषमताए और विरूपताए सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो गई है, उनका मूल कारण पूंजीवादी व्यवस्था ही है। शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है : दो सौ वर्ष पहले का इतिहास साक्षी है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धों का कोई न्याय-संगत मानवोचित या कहे 'डेमोक्रेटिक' नियमन असम्भव सिद्ध हुआ है, कि पूंजीवाद वर्ग-वैषम्य, शोषण, भुखमरी, बेकारी जातिभेद और युद्धवाद जैसी कुत्साओ का जनक और पोषक रहा है। पूंजीवाद में विज्ञान का उपयोग उत्पादन बढ़ाने और विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए किया जाता रहा है और अबुद्धिवाद का प्रयोग सामाजिक चेतना को खोखला करने के लिए। फलतः पूंजीवाद में व्यक्ति और समाज के जीवन को खतरा बढ़ता जाता है।[1] निराशावादी कलाकार वर्तमान स्थिति को प्रबल मान लेता है और वर्तमान पूंजीवादी सभ्यता के विनाश मे उसका विश्वास नहीं जम पाता। कलाकार का कर्तव्य है कि वर्ग-संघर्ष मे सर्वहारा वर्ग का पक्षधर बने।

समाजवादी यथार्थवादी कहते है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे कला और साहित्य के मूल्यो का ह्रास होता है। बुर्जुआ वर्ग का समर्थक कलाकार भविष्य की चेतना और उसके प्रति अपनी आस्था को खो बैठता है। इन विचारको के अनुसार कलाकार का लक्ष्य है संघर्षशील उत्पीड़ित मानवता के क्रांति-प्रयत्नो को बल देना। मार्क्सवाद कलाकार को जीवन की वास्तविकताओं को देखने-समझने की शक्ति प्रदान करता है।

रूस में सन् 1932 मे एक संगठन हुआ। इसमे समाजवादी यथार्थवाद की स्वच्छ व्याख्या की गई। गोर्की इसके प्रधान थे। उन्होने नवोदित मानववाद की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की।[2] "क्रांतिकारी सर्वहारा का मानववाद सुस्पष्ट है।

---

1. आलोचना, 29 जनवरी, 64
2. आलोचना, अक्टूबर, 64

द्वारा प्रकट किया जाता है साथ ही जड़ से चेतन का विकास नहीं हो सकता। चेतन का आधार बन कर भौतिक जड़ का विकास-विन्यास होता है। साम्यवादी के जड़ तत्व के गुणात्मक परिवर्तन को पूंजीवादी विचारक स्वीकार करके नहीं चलता वे चेतन और जड़ में पूर्वापर सम्बन्ध मानते हैं। इन दार्शनिकों की दृष्टि में चेतन तत्व का निषेध करने वाला ही यथार्थवादी है।

इन दोनों के अर्थ का एक व्यावहारिक पक्ष भी है। यथार्थ जीवन का वास्तव प्राप्तव्य है। जो प्राप्त न हो सके वह आदर्श है। इस व्याख्या के आधार पर पूंजीवादी साम्यवादी को आदर्शवादी मानता है। साम्यवादी एक वर्गहीन समाज की कल्पना करता है। इस समाज में वर्गगत-शोषण समाप्त हो जाता है। वर्ग-सम्बन्ध शोषण के आधार पर निर्धारित नहीं होते। वर्गहीन समाज में व्यक्तिगत प्रतियोगिता का स्थान सामूहिक सहयोग की भावना ले लेती है। आधि-व्याधि को सदा के लिए वहां विदा दे दी जायेगी। पूंजीवादी दार्शनिक के अनुसार यह स्थिति असम्भव है; केवल आदर्शवाद है। अतः साम्यवादी परले सिरे का आदर्शवादी है। यथार्थ पूंजीवादी दर्शन है जो पूर्ण समता के भाव को असम्भव मानता है। यही जीवन का वास्तव है। अधिकार और संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य में प्रकृति-बद्ध है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर विषमता न्यूनाधिक रूप में बनी रहेगी। प्रयत्न केवल इस बात का करना चाहिए कि सभी की मौलिक आवश्यकताएं पूर्ण हो जायं। इस पूर्ति के पश्चात् जो विषमता बनी रहती है या बनी रहेगी, वही जीवन का यथार्थ है। पूंजीवादी की दृष्टि में ये प्रवृत्तियां प्राकृतिक नहीं हैं, सभ्यता के विकास से पूर्व जो आदिम साम्यवाद की स्थिति थी, उसमें ये इच्छाएं नहीं थीं। इतिहास-क्रम में इन प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। अतः हमारे प्राप्तव्य साम्यवाद में भी ये नहीं रहेंगी। इस दृष्टि से साम्यवाद को आदर्शवाद मानना निरा भ्रम है। साहित्य में भी इन्हीं मान्यताओं की परिणति मिलती है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद की मनमानी व्यवस्थाएं चलती हैं। सामान्य रूप से साहित्य में मार्क्सवाद या समाजवाद के ऊपर आधारित यथार्थवाद ही मान्य है।

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार कलागत मूल्यों का निर्धारण अर्थ के आधार पर होता है, पर कलाकृतियां आर्थिक प्रयत्नों का यौगिक प्रतिबिम्ब मात्र नहीं हैं। यथार्थवादी वर्गों के आर्थिक सम्बन्धों और संघर्षों को सीधे चित्रित नहीं करता। यदि इस प्रकार के चित्र मिलते भी हैं, तब भी इनका उद्देश्य संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ का चित्रण ही होता है। काव्यगत तत्वों की स्थिति का भी इस यथार्थवाद में पूर्ण निषेध नहीं है, पर भावों का उत्तेजन और उद्रेक आर्थिक प्रेरणाओं से निरपेक्ष नहीं होता।

मार्क्सवादी यथार्थवाद साहित्य और वर्ग-संघर्ष का अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। वर्ग-संघर्ष की स्थितियों से साहित्य-रचना अवश्य प्रभावित रही है। सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं में साहित्य-प्रातिभ साधना के मूल-शासक या शोषक वर्ग की सेवा में समर्पित होते रहे हैं। इन व्यवस्थाओं में भी श्रेष्ठ कलाकारों ने शोषक-शोषित वर्गों के सम्बन्धों पर टिका-टिप्पणी भी की है। उन्होंने उत्पीडित और विपण्ण मानवता के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त की है। विकासोन्मुख शक्तियों का उद्घाटन और समर्थन भी किया गया है। अपने वास्तविक रूप में वह क्रांतिकारी वर्ग का विचारक भी बन जाता है। अतीतस्थ प्रगतिशील मानवतावादी परम्पराओं से इस प्रकार का अग्निचेता कलाकार अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

मार्क्सवाद के अनुसार आज जितनी विषमताएं और विरूपताएं सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो गई हैं, उनका मूल कारण पूंजीवादी व्यवस्था ही है। शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है : दो सौ वर्ष पहले का इतिहास साक्षी है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धों का कोई न्याय-संगत मानवोचित या कहें 'डेमोक्रेटिक' नियमन असम्भव सिद्ध हुआ है, कि पूंजीवाद वर्ग-वैषम्य, शोषण, भुखमरी, बेकारी जातिभेद और युद्धवाद जैसी कुरसाओं का जनक और पोषक रहा है। पूंजीवाद में विज्ञान का उपयोग उत्पादन बढ़ाने और विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए किया जाता रहा है और अबुद्धिवाद का प्रयोग सामाजिक चेतना को खोखला करने के लिए। फलतः पूंजीवाद में व्यक्ति और समाज के जीवन को खतरा बढ़ता जाता है।[1] निराशावादी कलाकार वर्तमान स्थिति को अचल मान लेता है और वर्तमान पूंजीवादी सभ्यता के विनाश में उसका विश्वास नहीं जम पाता। कलाकार का कर्तव्य है कि वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का पक्षधर बने।

समाजवादी यथार्थवादी कहते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में कला और साहित्य के मूल्यों का ह्रास होता है। बुर्जुआ वर्ग का समर्थक कलाकार भविष्य की चेतना और उसके प्रति अपनी आस्था को खो बैठता है। इन विचारकों के अनुसार कलाकार का लक्ष्य है संघर्षशील उत्पीडित मानवता के क्रांति-प्रयत्नों को बल देना। मार्क्सवाद कलाकार को जीवन की वास्तविकताओं को देखने-समझने की शक्ति प्रदान करता है।

रूस में सन् 1932 में एक संगठन हुआ। इसमें समाजवादी यथार्थवाद की स्वच्छ व्याख्या की गई। गोर्की इसके प्रधान थे। उन्होंने नवोदित मानववाद की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की।[2] "क्रांतिकारी सर्वहारा का मानववाद सुस्पष्ट है।

1. आलोचना, 29 जनवरी, 64
2. आलोचना, अक्टूबर, 64

वह मानवजाति के प्रेम के लच्छेदार और मधुर मुहावरे घोषित नहीं करता। इसका ध्येय संसार भर के सर्वहारा को पूंजीवाद के शर्मनाक, खूनी और और वहशी जुए से स्वतन्त्र करना है, न लोगों को यह सिखाना है कि वे स्वयं को नवकूणाहों (Philistnics) के निमित्त स्वर्ण और विलासोपकरण जुटाने के लिए कच्चे माल के रूप में क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुएं न समझें। पूंजीवाद विश्व को उसी तरह लांछित करता है जिस प्रकार कि एक जीर्ण वृद्ध, जो जीर्णाव्यवस्था के रोगों का गर्भाधान कराने के अतिरिक्त नपुंसक है, एक स्वस्थ युवा स्त्री के प्रति अतिक्रमण करता है। सर्वहारामानववाद का कार्य एक श्रमजीवी से प्रेम को प्रतीकात्मक घोषणाएं नहीं मांगता वह हर मजदूर से अपने ऐतिहासिक मिशन की चेतना की सत्ता पाने के अधिकार की ....धन लोलुपों से .. ....परोपजीवियों से, फासिस्टों तथा हत्यारों से अमिट घृणा की, उन सब तथ्यों से जो कष्ट के कारण हैं और उनसे जो करोड़ों लोगों के कष्ट पर जीते हैं, घृणा की मांग करता है।[1] इस प्रकार मार्क्सवादी यथार्थवाद में वर्ग-चेतना चरम् कोटि की रहती है। इसमें मानव-मन के परिवर्तन पर विश्वास नहीं किया जाता। कलाकार को समाजवादी समाज की स्थापना के लिए सतत् प्रयत्न करना चाहिए और इसके लिए सक्रिय सहयोग भी देना चाहिए। साथ ही गोर्की ने साहित्यिकों पर पार्टी के नियन्त्रण का भी समर्थन किया है। उसके अनुसार लेखक भी पार्टी का सदस्य होता ही है। पार्टी का उद्देश्य है दुनियाभर के मजदूरों को आजादी की आखिरी लड़ाई लड़ने के लिए संगठित करना। एक नेता के रूप में लेखक को एक सामूहिक दायित्व की चेतना जगानी है।[2] गोर्की के अनुसार समाजवादी यथार्थवाद यह घोषित करता है कि जीवन कर्म है, रचनात्मक है। जीवन का उद्देश्य है मनुष्य के सर्वोत्तम वैयक्तिक महान् आनन्द के लिए निर्बाध विलास। पृथ्वी को आवश्यकता के अनुसार सम्पन्न करके, -से संयुक्त मानव जाति के लिए एक भव्य निवास-स्थान बनाना है।[3]

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार जीवन का यथार्थ चित्रण ही कला की कसौटी है। इस चित्रण का उद्देश्य है समाजवाद का प्रसार। साम्यवाद के अनुसार आज का संसार वर्ग समाज से वर्ग-हीन समाज में संक्रमण करने की तैयारी में है। इस वेला का प्रेरणादायक चित्रण करना कलाकार का कर्तव्य है। इसमें स्पष्ट रूप से संघर्षशील और प्रतिगामी शक्तियों का अलग-अलग रूप आना चाहिए। प्रथम शक्तियों की विजय में आस्था उत्पन्न करना कलाकार का कार्य है। पूंजीवादी शोषण समाप्त कर दिया गया है। उन देशों के कलाकार को समाजवादी समाज की

1. Maxim Gorki : Culture and the People.
2. Maxim Gorki on Literature, P. 263
3. वही, 10, 164

स्थापना के प्रयत्नों का साहित्यिक स्थापन करना है। सतत् विकासशील समाज की चेतना को सुदृढ़ करना और उसके प्रति विश्वास दृढ़ करना यही यथार्थवादी कलाकार का कर्त्तव्य धर्म है। वर्ग-विरोध सभी रूपों में प्रकट होना चाहिए। यथार्थवादी कला का वैचारिक मूल्य (Ideological Value) है। जीवन के किसी विरोध (Contradiction) को छिपाने की प्रवृत्ति वास्तविकता को विकृत कर देती है। इससे साहित्य के प्रभाव में भी कमी आती जाती है।[1] साहित्य सामान्य जन की समाजवादी शिक्षा का सबसे सबल माध्यम है।

यदि जन-संघर्ष और जन-शिक्षण का माध्यम कला और साहित्य को बनाना है तो विषय और रूप दोनों ही दृष्टियों से उसे इतना–कुछ सरल सुबोध होना है कि आम जनता उसे समझ सके। यथार्थ के प्रति उसकी कल्पना में कोई भी अस्पष्टता नहीं रहनी चाहिए। कला के अस्पष्ट और जटिल होने पर, वह एक उच्चवर्ग की वस्तु बन जायेगी और उसका मनोरथ विफल हो जायगा।

समाजवाद यथार्थ की इस प्रकार की व्याख्या तो हो सकती है, पर उसकी परिभाषा कठिन है। इस कठिनाई का अनुभव रूसी साहित्यिक भी करते हैं।[2] यह भी कहा गया है कि यदि इस यथार्थवाद को समझना है तो रूसी साहित्यिक के पर्यवेक्षण से इनको समझा जा सकता है। सोवियत लेखक संघ के विचारकों का मन्तव्य यह प्रतीत होता है। समाजवादी यथार्थवाद सोवियत कलात्मक साहित्य और साहित्य समीक्षा की आधारभूत पद्धति है, जो कलाकारों से सच्चाई और ऐतिहासिक मूर्तता (Historical Concreteness) के सहित वास्तविकता को उसके क्रांतिकारी विकास की भूमिका में चित्रण करने की माग करती है। कलात्मक चित्रण की सत्यशीलता और ऐतिहासिकता मूर्तता के साथ समाजवाद की दिशा में श्रमिकों के सैद्धान्तिक रूपान्तरण (Ideological transformation) और शिक्षण की समस्या को ध्यान में रखा जाना भी आवश्यक है।[3]

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार मनुष्य का सर्वोपरि स्थान है। मानवीय मनोरागों का समाज—निरपेक्ष चित्रण तो विलासिता है। सामाजिक पृष्ठभूमि में उनका चित्रण जीवित हो जाता है। वातावरण का लोप करके मनोवृत्तियों का चित्रण करना अस्पष्टता और दुरूहता को जन्म देता है और चित्रण में उत्तेजना की शक्ति नहीं रह जाती। कलात्मक साधना मनुष्य को उसके परिवेश से सम्पृक्त करती है। समाजवादी कला का आकर्षण अनिवार्यतः समष्टि के प्रति होता है। 'टिपिकल'

---

1. Chou Yang, China's New Literature P. 47
2. Soviet Literature during the yhaw (1954-57) P. 4
3. नवलकिशोर, आलोचना (अक्टू. 64) पृ. 10 पर Soviet Literature to-day से रूपान्तरित

(प्रतिनिधि) को प्रस्तुत करना ही उसका ध्येय है। इन प्रतिनिधि पात्रों का जीवन को विविध परिस्थितियों में सच्चा चित्रण करना ही कला का ध्येय है। 'यथार्थवादी साहित्य की कसौटी 'टाइप' है, जो पात्रों और परिस्थितियों दोनों में ही सामान्य और विशिष्ट को आवयविक एक सूत्रता में आबद्ध करने वाला संश्लेषण (Synthesis) है।' इनमें से किसी एक को प्रमुखता देने वाला साहित्य एकाङ्गी कहा जायेगा। इनको संश्लिष्ट रूप में चित्रित करना ही श्रेयस्कर होता है। एकान्त अन्तर्दर्शन या एकान्त *बहिर्दर्शन वास्तविकता को विकृत करके देखने का प्रयत्न है।*

जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, यथार्थवाद साहित्य की बोधगम्यता को अनिवार्य मानता है। साहित्य का कार्य साम्यवाद को अन्तिम परिणति के लिए नैतिक प्रावधान तैयार करना है। अस्पष्ट होकर साहित्य का यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो *सकता। अस्पष्टता का एक मनोवैज्ञानिक कारण व्यक्तिवादी चेष्टाओं की प्रमुखता भी* है। अतः व्यक्तिवादी चेष्टाओं का विरोध मार्क्सवादी यथार्थ में मिलता है। व्यक्तिवादी भाव-चेष्टाएं साहित्य को जनता से दूर हटाती हैं। सोवियत आलोचक रूपवाद (Formalism) को स्वीकार नहीं कर सकता। रूपवाद से उनका तात्पर्य अमूर्त (Abstract) से है। इस मार्ग के लेखक प्रयोगों को साध्य मान लेते हैं, इन प्रयोगों में मनोराग वास्तविक सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित नहीं किए जाते। अन्ततः प्रयोगों को साध्य मान लेने वाला साहित्य बुर्जुआ समाज से मेल कर लेता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यथार्थवादी रूप को अस्वीकार करता है। रूप को अस्वीकार करना, कला को ही स्वीकार करना है, वस्तु की प्रतिष्ठा रूप के बिना नहीं हो सकती है। पर केवल रूपवाद उसे अस्वीकार्य है।

यथार्थवादी कलाकार पर यह दोष लगाया जाता है कि जनता तक अपनी कला को पहुंचाने की साधना में वह उच्चकोटि की कृतियां नहीं दे सकता है। उसकी कला प्रचारवादी उद्देश्यों में उलझ जाती है। पर कलाकार यदि प्रतिभावान है, तो इस लक्ष्य को रखते हुए भी उसकी कला उच्चकोटि की होगी।

यथार्थवाद की दृष्टि में कला सोद्देश्य होनी चाहिए। वह चाहे अनिवार्यतः प्रचार में संलग्न न हो, पर अपने आप में साध्य भी नहीं है। उसका सामाजिक उद्देश्य कलाकार की दृष्टि में सदा रहना चाहिए। उन्नत कला वह मानी जायेगी जो कलात्मक और प्रभावोत्पादक पद्धति से यथार्थ को रूपायित कर सके। पर कला-साधना सघन होकर वास्तव यथार्थ को ढँक न ले। यदि कला पर उद्देश्य आरोपित होगा, तो वह अविकल नहीं रह सकती।

उद्देश्य पर कला का परिस्थिति के चित्रण से स्वाभाविक रूप से उदय होना चाहिए। साथ ही कलाकार सामाजिक द्वन्द्वों का कोई बना बनाया हल देने के लिए भी बाध्य नहीं है।

यथार्थवादी का ध्येय है प्रतिनिधि परिस्थितियों में प्रतिनिधि पात्रों को समस्त वास्तविकता के साथ चित्रित करना। चित्रण उस मानव का होना चाहिए जो इतिहास की गति में पिछड़ा हुआ न हो और जिसमें अपने भाग्य-निर्माण की शक्ति हो। ये व्यक्ति समाजवादी समाज की साधना में संलग्न हो। अपने लक्ष्यों के प्रति इनमें पूर्ण आस्था और आशा होनी चाहिए। श्रमजीवी की इच्छा शक्ति और उसके साहस के चित्र कलाकार को देने चाहिए। व्यक्ति समस्याओं के केन्द्र में स्थित रहना चाहिए कि कहीं सिद्धान्त-रूढ़, निर्जीव पात्र की सृष्टि न हो जाय। पात्र को व्यक्तिवान् होना चाहिए।

साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह जीवन के तात्कालिक प्रकरणों को ही ग्रहण करे। पार्टी की गतिविधि को स्वीकार करके मार्क्सवादी कलाकार चलता है। स्टालिन कलाकार को 'मानवात्मा का अभियन्ता' (Engineer of the human soul) मानता था। ख्रुश्चेव ने भी एक लेखक सभा में कहा था : कलाकार का कर्त्तव्य है कि साम्यवादी शिक्षा एक उन्नत शैली में दे। उसे एक उच्च सौन्दर्यात्मक अभिरुचि भी उत्पन्न करनी है। साम्यवादी नैतिकता का प्रचार भी उसका कर्त्तव्य है।

कलाकार की स्वतन्त्रता की जो बात पूंजीवादी या व्यक्तिवादी व्यवस्था में उठाई जाती है, उसे यथार्थवादी स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में यह नारा असामाजिक और व्यक्तिवादी कला कृतियों को प्रोत्साहन देने के लिए है। साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था में कलाकार की स्वतन्त्रता की कल्पना एक भ्रम है। जहां की व्यवस्था में पैसे की शक्ति और कीमत इतनी बढ़ गई हो, वहां कलाकार की स्वतन्त्रता बनी नहीं रह सकती। लेखक एक पूंजीवादी प्रकाशक के शोषण से कैसे मुक्त रह सकता है। जो लेखक मजदूर वर्ग की आशा-आकांक्षाओं का चित्रण करता है, वही स्वाधीन कहा जा सकता है। ऊँचे वर्गों के बदले कामकाजी अवाम की सेवा में संलग्न कलाकार ही सही अर्थों में आजाद हो सकता है।[1] तात्पर्य यह है कि कलाकार की स्वतन्त्रता इस बात पर निर्भर रहती है कि वह समाज के किस वर्ग से सम्बद्ध है। उच्च वर्गों से सम्बद्ध कलाकार स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का निर्णायक तत्त्व अभिव्यक्त वस्तु-तत्त्व है।

यथार्थवादी कलाकारों का एक निषेधात्मक रूप भी है पूंजीवाद की विकृतियों का चित्रण, उनके प्रति घृणा उत्पन्न करना और उस व्यवस्था की भरसक निन्दा करना भी कलाकार का कर्त्तव्य माना जाता है। यह एक प्रकार से आलोचनात्मक यथार्थवाद का अङ्ग है। समाजवादी यथार्थवाद इस आलोचनात्मक यथार्थवाद से आगे का सोपान है। आलोचनात्मक यथार्थवाद पतनोन्मुख बुर्जुआ वर्ग की जघन्यता और अमानवीयता का उद्घाटन करता है।

---

1. डा. रामविलास शर्मा : भाषा साहित्य और संस्कृति; पृ. 206-207

यथार्थवादी समालोचक व्यक्तिवादी कलाकार की आलोचना इस प्रकार करते हैं : आधुनिक योरुप की कला पतनोन्मुख है। उसमे मनुष्य अपने समग्र रूप मे उपस्थित नही है। सजीव मानव का साहित्य से लोप होता जा रहा है। मानवीय सम्बन्धों का यथार्थ रूप इन व्यक्तिवादी कृतियो में नही मिलता। मनुष्य जाति के भविष्य के प्रति बुर्जुआ कलाकार आशावान् नही है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को वह अटल मान लेता है। सामाजिक द्वन्द्वों के स्थान पर इस प्रकार की कलाकृतियों मे अन्तर्संघर्ष, मौन परिकल्पनाएं, अयथार्थ, विचार क्रम, आदिम पशु प्रवृत्तिया, पागलपन और अपराध चेष्टाएं मिलती है। इनमें 'एण्टीहीरो' विचारधारा की अभिव्यक्ति ही है। शक्तिशाली व्यक्ति भी समाज मे है, पर बुर्जुआ कलाकार उन व्यक्तियो की ओर ध्यान कहा देता है ? एक सोवियत सिने कलाकार ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं। " बुर्जवा कलाकार वर्ग सघर्ष पर केन्द्रित रहता है। जिस समाज की वे पैदावार है उसकी समस्त कुत्साओ को वे अपनी कृतियों मे प्रतिबिम्बित करते हैं। उनके पात्रो का समाज से कोई सम्पर्क नही रहता। वे अपने एकाकीपन के अवसाद मे खोये रहते हैं—सर्वनाश के भय से भ्रमित वे विक्षिप्त होकर किसी सहारे की तलाश मे हाथ पैर पटकते हैं और आसमान की तरफ मुंह उठाकर कभी ईश्वर को कोसते है तो कभी पागलो की तरह हर चीज को तहस-नहस करना शुरू कर देते हैं या अपने एकाकीपन पर आंसू बहाने लगते है।"[1] इस प्रकार की आलोचनाए यथार्थवादी बुर्जुआ वातावरण मे पली कलाओ की करते हैं। समाजवादी व्यक्ति को उसकी महानता के क्षणो मे चित्रित करना है।[2] समाजवाद लाने वाली चेष्टाओं को आशा और वीरता के साथ चित्रित करना मार्क्सवादी दृष्टिकोण समझा जाता है। इस हीरो को अधिक पूर्णता और विविधता के साथ चित्रित किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य मे सशय, निराशा और वास्तविकता का निषेध नही मिलता।

समाजवादी, यथार्थवादी, आधुनिकतावाद (Modernism) का भी विरोध करता है। इन साहित्य-शाखाओ मे यथार्थवाद और स्वस्थ ऐतिहासिक परम्परा का निषेध है। नई धाराओ मे जीवन के प्रति दासवादी दृष्टि इस प्रकार के आधुनिक साहित्य मे मिलती है। 'नये साहित्य मे रूप के प्रति आग्रह है और सारवान वस्तु (Content) का निरसन।

अन्य क्षेत्रो मे भी यथार्थवादी कलाकारो का अभाव नही है। पूंजीवादी समाज मे रहते हुए भी ऐसे लेखक मिल जायेंगे जो वर्ग-वैषम्य का विरोध करते हैं पर साम्यवादी समीक्षक को सवेदनाएं और उत्पीड़ित मानव की पुकार प्रभावित करती है। साम्यवादी समीक्षक की दृष्टि में इन यथार्थवादियो का इतना मानदमूल्य नही है क्योंकि वे कलाकार मार्क्सवादी परिवार साम्यवादी 'पार्टी' के अनुशासन मे

---

1. आलोचना, 27 जुलाई, 1963, (कला और व्यक्ति)
2. Studies in European Realism : George Lukacs, P. 274

नहीं चलते । स्वतन्त्र समीक्षक मार्क्सवादियों की सामूहिकरण (Regimentation) तथा सरकार और पार्टी के नियन्त्रण की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हैं । वस्तु और रूप दोनों ही, इन प्रवृत्तियों से सकुचित सीमाओं में जकड़ जाते है । इस नियन्त्रित वातावरण में लेखक की सृजनात्मक प्रतिभा का उन्मुक्त विकास नही हो सकता। स्टालिन के समय मे सहकारी आदेशो से साहित्यकार को बधकर चलना होता था। जो इन अनुज्ञाओं का पालन नहीं कर पाता था उनको घोर अपमान, निन्दा, दण्ड सहने पडे और आत्महत्या तक करनी पड़ी। सम्भवतः सरकारी बन्धन अब रूस मे भी इतने नही रहे, पर अभी कलाकार की स्वतन्त्रता वहां पूर्णरूप से मान्य नही है । यथार्थवाद की व्याख्या भी समय-समय पर शासकीय नीति के अनुसार की जाती है । इसलिए समाजवादी यथार्थवाद का रूप सुनिश्चित नही हो पाता।

साथ ही यह यथार्थवाद अन्य साहित्य-रूपों के प्रति असहिष्णु है । यूरोप का वर्तमान साहित्य निराशा-ग्रस्त होने पर भी कुछ श्रेष्ठ कलाकृतियां लिए खडा है । इन रचनाओं में निराशा चाहे हो, पर पराजय का स्वर नही है । चाहे भविष्य का चित्र इनके सामने स्पष्ट नहीं हो पा रहा हो; पर मनुष्य की शक्ति मे अविश्वास नही है । पर यथार्थवादी समीक्षक इनको अस्वीकृत करके अपने ही सीमाओं का परिचय देता है । सैद्धान्तिक वस्तु के प्रति अति आग्रह के कारण कलात्मक मूल्य सकट मे पडते जा रहे हैं । "यदि एक उपन्यासकार को पात्रों को चित्रित करते समय टाइप का ही चुनाव करना हुआ और अपनी कृति में आशावादी स्वर को ही अभिव्यक्ति देनी पड़ी तो उसे अपने अनुभव और कृति की अपनी माग के स्थान पर उन मान्यताओं को प्रमुखता देनी होगी जिनके प्रसार की उससे अपेक्षा की जाती है । कृति को आम लोगों तक पहुंच का एक साहित्यिक प्रतिमान मान लेने का नतीजा होगा उन साहित्यिक प्रयोगो का अवरुद्ध होना जिनकी अनुशंसा के लिए उच्चकोटि की कलात्मक अभिज्ञता अपेक्षित है । यही कारण है कि साम्यवादी जगत मे पश्चिम के उन श्रेष्ठ साहित्यकारो को कोई महत्व नही दिया गया है जो व्यक्ति को निजता के प्रति आग्रहशील हैं और उसे विशिष्ट रूप मे चित्रित करते हैं तथा जिन्होने अभिव्यक्ति के माध्यमो में सर्वथा नवीन प्रयोग किए है।"[1]

समाजवादी यथार्थवाद सामाजिक दायित्व के प्रति लेखक को जागरुक रखता है । यही इसकी देन है । इसकी सीमाए भी स्पष्ट है । इसमें व्यक्ति और उसके परिवेश की प्रतिष्ठा है ।

साहित्य मे दो प्रकार के यथार्थवादी मिलते हैं : एक वे जो मार्क्सवाद का पल्ला नही छोड़ते और पार्टी अनुशासन में अपनी सृजन-साधना करते हैं । दूसरे वे जो यथार्थ का चित्रण करते हैं, पर पार्टी अनुशासन को स्वीकार नही करते । हिन्दी मे राहुल, रांगेयराघव, यशपाल, नागार्जुन आदि प्रगतिवादी उपन्यास लेखक यथार्थवादी कहे जाते है । निराला की 'कुकुरमुत्ता', 'वेला', 'अणिमा' आदि परवर्ती काव्य

1. नवलकिशोर, आलोचना अक्टूबर, 64, पृ 19-20 ।

है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद की प्रतियोगिता में मनोवैज्ञानिक प्रति यथार्थ-वाद खड़ा हुआ। ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि यशपाल, राहुल और इलाचन्द्र जोशी के सामाजिक यथार्थवाद पर मनोवैज्ञानिक यौनवाद का प्रभाव रहा। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के उपन्यासों में शुद्ध मनोवैज्ञानिक यथार्थ के दर्शन भी होते हैं। प्रगतिवादी भी कुछ सीमा तक फ्रायड से प्रभावित रहे। पीछे समाजवादी समीक्षकों ने फ्रायड, युंग और एडलर की धारणाओं को भ्रान्त घोषित कर दिया और यह फतवा भी दे दिया गया कि इनकी मनोवैज्ञानिक धारणाएं पूंजी-वाद का समर्थन करती हैं। इसको पूंजीवादी मनोविज्ञान की संज्ञा दी गई। फ्रायड का मनोविज्ञान शरीर-शास्त्र की अवहेलना करके चलता है। 'पावलाव' ने फ्रायड के मनोविज्ञान को पौराणिक मनोविज्ञान कहा। शुद्ध यथार्थवादी की दृष्टि में समाजगत वस्तु यथार्थ ही प्रमुख है। इसका विकास चेतन मन के आधार पर हुआ है। अवचेतन, स्वप्न आदि की प्रक्रिया को महत्त्व देना प्रतिक्रियावाद या पुराणवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थ-वाद में संघर्ष चला।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की दृष्टि में अवचेतन या अन्तर्मन की गहराइयों का चित्रण ही यथार्थ के अन्तर्गत आता है। पूंजीवादी देशों में इसी प्रकार का यथार्थवाद प्रतिष्ठित है। उनकी दृष्टि में समाजवादी यथार्थवाद प्रचार मात्र है जो व्यक्ति के मन की हलचल पूर्ण यथार्थ गहराइयों को झुठला कर चलता है। हिन्दी क्षेत्र में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के पक्ष में दिखलाई पड़ते है और यथार्थवाद को यह मात्र प्रचार मानते हैं। 'गुनाहों के देवता' (भारती)' 'शेखर', 'एक जीवनी', 'नदी के द्वीप,' 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय) तथा 'खाली कुर्सी की आत्मा' (लक्ष्मीकांत वर्मा) आदि में वास्तविक यथार्थवाद माना जाता है। जहां समाजवादी यथार्थवाद का केन्द्र वर्ग संघर्ष है, वहां मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की आधारशिला अवचेतन मन की ग्रन्थियां और चेतन एवं अवचेतन का संघर्ष है। समाजवादी यथार्थवाद जहां 'टाइप' को लेकर चलता है जो एक वर्ग या सामाजिक स्थिति का प्रतिनिधित्व कर सके। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी विशिष्ट व्यक्ति को लेकर चलता है। 'टाइप' में उसे स्थिरता और जड़ता दिखलाई पड़ती है। मनोविज्ञान-वादियों के पात्र विलक्षण भी हो जाते हैं। कभी कभी ऐसे पात्रों की कल्पना भी मिलती हैं जो समाज में अप्राप्य होते हैं।

हम जिस स्थिति में रहते हैं, उससे एक सीमा तक ही सन्तोष होता है। उस स्थिति में अधिक समय तक रहने में, एकसी ही क्रियाएं करते रहने पर, हमें कुछ अरुचि और असन्तोष होने लगता है। हम उससे आगे की महत्तर और सुन्दरतर अवस्था में जाना चाहते है। सर्वजन सुलभ तो यथार्थ होता है। ऐसा सत् आचरण,

कृतियां और पंत की 'युगान्त', 'युग वाणी' और 'ग्राम्या' जैसी रचनाएं भी प्रगतिशील हैं। पर ये लेखक चाहे निम्न वर्ग की प्रतिष्ठा साहित्य में कर रहे हों, साम्यवादी विचारधारा से बंधे हुए यथार्थवादी नहीं कहे जायेंगे, इनमें विवश, चित्रण और निम्न-वर्ग या शोषित के प्रति सहानुभूति है और शोषक वर्ग के प्रति क्रान्ति भी, पर ये एक बंधे बंधाये चौखटे में नहीं चलते।

यहां तक कि प्रेमचन्द में भी विशिष्ट यथार्थवाद प्रायः नहीं मिलता। उनके 'गोदान' में ही इस साम्यवादी या विशिष्ट यथार्थवाद की कुछ झलक मिलती है। उनके शेष उपन्यास छायावादी भावुकता और आदर्शवाद की छाया से मुक्त नहीं हैं। 'यशपाल' शुद्ध यथार्थवादी हैं। उनका 'झूठा सच' इस वाद की प्रतिनिधि रचना माना जा सकता है। पर 'सेक्स' की उलझन भी इनके उपन्यासों की यथार्थ भूमिका में आ जाती है। कट्टर यथार्थवादी समीक्षक इन उलझनों की कड़ी आलोचना करता है। यथार्थवाद की इन उलझनों में मजा देने का अधिकार उनको नहीं है। अमृतलाल नागर के उपन्यासों में भी यथार्थवाद है — 'बूंद और समुद्र,' 'सेठ बांकेमल,' कोठेवालियां'। किन्तु इन कृतियों में भी प्रच्छन्न अरविन्दवाद झलक जाता है। बस उतने ही साम्प्रदायिक यथार्थवाद लांछित हो गया। भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र' में मौनवादिता, आवारापन जैसे सजीव यथार्थ तत्व मिलते हैं, पर साम्यवादी यथार्थवाद की दृष्टि में उन्होंने उद्देश्य को अस्पष्ट कर दिया है और उनकी दृष्टि में एक साहित्यिक अपराध भी। इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी' कलकत्ते की गरीबी का चित्रण करता है। पर उनकी पूर्ववर्ती कृतियों में जो मौनवाद आया है, वह यथार्थवादी समीक्षकों को सह्य नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक यथार्थवाद के दर्शन होते हैं जो इतिहास की एँगिल्स-पद्धति को लेकर उसकी व्याख्या आर्थिक आधार पर करता है। वह ऐतिहासिक यथार्थवाद को साहित्यिक परिणति दे रहा है। यदि लेखक व्यक्ति पूजा, सम्प्रदाय, सामन्त आदि के विवरण में उलझ गया तो सच्चा यथार्थवादी नहीं रहा। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में यथार्थ मिलता है। उनके पात्र धरती-पुत्र ही होते हैं। पर मार्क्सवादी दृष्टि से पूर्ण आर्थिक व्याख्या का तो उनके उपन्यासों में अभाव है ही। इनसे अधिक साम्यवादी दृष्टि राहुल और रांगेय राघव के उपन्यासों में मिलती है। फिर भी आर्यों का मौनवाद यथार्थवादी समीक्षक को सह्य नहीं है। साथ ही बौद्ध-धर्म के प्रति जो आग्रह है, उसके कारण शुद्ध यथार्थवाद नहीं रह गया है।

मनोविज्ञान ने साम्यवादी यथार्थवाद पर चोट की है। फ्रायड ने व्यक्ति के अवचेतन के स्तरों का उद्घाटन किया। उसने अवचेतन मन की प्रक्रिया और उसकी उत्क्रान्ति को अधिक महत्व दिया। इन प्रक्रियाओं का चित्रण उसकी दृष्टि में यथार्थ

है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद की प्रतियोगिता में मनोवैज्ञानिक प्रति यथार्थवाद खड़ा हुआ। ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि यशपाल, राहुल और इलाचन्द्र जोशी के सामाजिक यथार्थवाद पर मनोवैज्ञानिक मौनवाद का प्रभाव रहा। अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के उपन्यासों में शुद्ध मनोवैज्ञानिक यथार्थ के दर्शन भी होते हैं। प्रगतिवादी भी कुछ सीमा तक फ्रायड से प्रभावित रहे। पीछे समाजवादी समीक्षकों ने फ्रायड, युंग और एडलर की धारणाओं को भ्रान्त घोषित कर दिया और यह फतवा भी दे दिया गया कि इनकी मनोवैज्ञानिक धारणाएं पूंजीवाद का समर्थन करती हैं। इसको पूंजीवादी मनोविज्ञान की संज्ञा दी गई। फ्रायड का मनोविज्ञान शरीर-शास्त्र की अवहेलना करके चलता है। 'पावलॉव' ने फ्रायड के मनोविज्ञान को पौराणिक मनोविज्ञान कहा। शुद्ध यथार्थवादी की दृष्टि में समाजगत वस्तु यथार्थ ही प्रमुख है। इसका विकास चेतन मन के आधार पर हुआ है। अवचेतन, स्वप्न आदि की प्रक्रिया को महत्त्व देना प्रतिक्रियावाद या पुराणवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद में संघर्ष चला।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की दृष्टि में अवचेतन या अन्तर्मन की गहराइयों का चित्रण ही यथार्थ के अन्तर्गत आता है। पूंजीवादी देशों में इसी प्रकार का यथार्थवाद प्रतिष्ठित है। उनकी दृष्टि में समाजवादी यथार्थवाद प्रचार मात्र है जो व्यक्ति के मन की हलचल पूर्ण यथार्थ गहराइयों को झुठला कर चलता है। हिन्दी क्षेत्र में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के पक्ष में दिखलाई पड़ते है और यथार्थवाद को यह मात्र प्रचार मानते हैं। 'गुनाहों के देवता' (भारती)' 'शेखर', 'एक जीवनी', 'नदी के द्वीप,' 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय) तथा 'खाली कुर्सी की आत्मा' (लक्ष्मीकात वर्मा) आदि में वास्तविक यथार्थवाद माना जाता है। जहां समाजवादी यथार्थवाद का केन्द्र वर्ग संघर्ष है, वहाँ मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की आधारशिला अवचेतन मन की ग्रन्थियां और चेतन एवं अवचेतन का संघर्ष है। समाजवादी यथार्थवाद जहां 'टाइप' को लेकर चलता है जो एक वर्ग या सामाजिक स्थिति का प्रतिनिधित्व कर सके। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी विशिष्ट व्यक्ति को लेकर चलता है। 'टाइप' में उसे स्थिरता और जड़ता दिखलाई पड़ती है। मनोविज्ञानवादियों के पात्र विलक्षण भी हो जाते हैं। कभी कभी ऐसे पात्रों की कल्पना भी मिलती है जो समाज में अप्राप्य होते हैं।

हम जिस स्थिति में रहते हैं, उससे एक सीमा तक ही सन्तोष होता है। उस स्थिति में अधिक समय तक रहने में, एकसी ही क्रियाएं करते रहने पर, हमें कुछ अरुचि और असन्तोष होने लगता है। हम उससे आगे की महत्तर और सुन्दरतर अवस्था में जाना चाहते है। सर्वजन दुलभ वो यथार्थ होता है। ऐसा सत् आचरण,

जो सर्वजन सुलभ नहीं होता आदर्श कहलाता है। आदर्श कल्पना प्रसूत होता है। मनुष्य उच्चतर बनने के लिए साधना करता है प्रत्येक प्राप्त अवस्था यथार्थ बनती चलती है और आगे का स्वप्न आदर्श उपस्थित करता चलता है।

मनुष्य का वर्तमान वैषम्यपूर्ण रहता है। इस वैषम्य को उसे स्वीकार करते हुए चलना पड़ता है। पर समरस की स्थिति को प्राप्त करने के लिए उसकी साधना भी चलती रहती है। वर्तमान से विद्रोह करता हुआ, वह उस स्थिति को पहुंचना चाहता है जहां वैषम्य का विष उसका दम न घोटे। इस स्थिति में वह पूर्णता का स्वप्न देखता है।

इस आदर्श से हमारा यथार्थ जीवन प्रेरणा ग्रहण करता है। उसकी दिशा सुनिश्चित होती है। आदर्श यथार्थ जीवन में चाहे पूर्ण रूप परिणत न हो पाये, पर उसको जीवन में घटित करने की लालसा अवश्य बनी रहती है। जीवन के यथार्थ संघर्ष में जूझता हुआ मनुष्य एक आदर्श लोक की कल्पना से एक सुख-शान्ति का अनुभव करता है। आदर्श के प्रति आशावान् होकर अपने यथार्थ जीवन को वह गतिशील रखता है।

आदर्श का रूप देशकाल सापेक्ष होता है। परस्थितियों के कारण आदर्शों के रूप में भी परिवर्तन होता रहता है : पर आदर्श के साथ एक शर्त सर्वत्र लगी रहती है : वह हमारे वर्तमान जीवन को विकसित करने वाला हो। जो आदर्श वर्तमान जीवन को गति और तीव्रता नहीं दे सकता वह निर्जीव होगा। कहीं आदर्श जड़ न हो जाय, इसीलिए उसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए।

हिन्दी साहित्य में आरम्भ में वीरता का आदर्श मान्य था। राजस्थान के कवियों ने ऐसे कितने ही किरणोज्जवल आदर्शों की स्थापना की थी जो इतिहास में अमर हो गए। भक्तिकालीन साहित्य में आदर्श बदल गया। प्रेम सम्बन्धी उच्चतम आदर्शों की स्थापना इस काल में हुई।[1] मध्यकालीन आदर्शों की सबसे मनोरम झांकी तुलसी के 'मानस' में मिलती है।

रीतिकालीन साहित्य में किसी विशिष्ट आदर्श के दर्शन नहीं होते। आधुनिक साहित्य में त्याग, बलिदान, जैसे राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना हुई। 'यशोधरा,' 'राधा,' 'उर्मिला' जैसे आदर्श नारी चरित्रों की उद्भावना द्विवेदी युगीन साहित्य के कवियों ने की। छायावाद ने सौन्दर्य और प्रेम के आदर्शों की स्थापना की जो नैतिकता की बेड़ियों में जकड़े हुए नहीं थे।

---

1. यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुंइ धरै, तब पैठे घर माहिं॥—कबीर
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग गिर परै, कन्त धरै जहं पाव॥—जायसी
बध्या बधिक परयो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच॥—तुलसी